हिन्दी साहित्य : विविध परिदृश्य

डा० सन्त राम वैश्य

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

विषय संख्या ____ आगत नं० ____

लेखक वैद्य सन्तराम

शीर्षक हिन्दी साहित्य विविध परिचय

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

वर्ग संख्या......... आगत संख्या...114092

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३०वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

समर्पण

हिन्दी के मूर्धन्य आलोचक

श्रद्धेय गुरुवर्य

डा० त्रिभुवन सिंह

पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

तथा

पूर्व कुलपति

महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ

वाराणसी

को

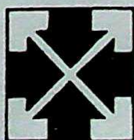
श्रद्धापूर्वक

हिन्दी साहित्य : विविध परिदृश्य



डा० सन्त राम वैश्य
रीडर, हिन्दी विभाग
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार – 249 404





अजय प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स
सिविल लाईन (निकट शताब्दी द्वार)
रुड़की – २४७ ६६७

हिन्दी साहित्य : विविध परिदृश्य

ISBN 81-86463-25-9

मूल्य रू० 210.00

प्रकाशक :

अजय प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स
19, सिविल लाईन (निकट शताब्दी द्वार)
रुड़की – 247 667

दूरभाष : 01332 - 73140
फैक्स : 01332 - 74740
ई०मेल : mehta@ndb.vsnl.net.in

विषय सूची

पृष्ठ संख्या

अपनी बात

'हिन्दी साहित्यः विविध परिदृश्य' मेरे समय–समय पर लिखे गए लेखों तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों की साहित्यिक संगोष्ठियों एवं पुनश्चर्या पाठ्यक्रमों में दिये गये व्याख्यानों का संकलन है। इसे मैंने क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित रूप प्रदान किया है। इस संकलन के लेखों में हिन्दी साहित्य के विविध पक्षों, प्रमुख रचनाकारों एवं उनकी रचनाओं पर नई दृष्टि से विचार किया गया है। विषय कुछ पुराने हैं, कुछ बिल्कुल नए। लेखों के चयन में मेरा प्रयास रहा है कि परम्परा और आधुनिकता का समन्वय बना रहे। 'संस्कृति और सभ्यता' से लेकर 'हिन्दी लघुकथाः सृजन और संघर्ष' तक के ये लेख कुल मिलाकर हिन्दी साहित्य का विविध परिदृश्य प्रस्तुत करते हैं।

संस्कृति, एक ऐसा प्राणवान तत्व है जो हमारे सम्पूर्ण जीवन में व्याप्त है। इसका समाज और साहित्य से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस विषय की उपयोगिता को ध्यान में रखकर ही संकलन में तीन लेखों को स्थान दिया गया है। कबीर, सूर, तुलसी हिन्दी साहित्य के अनमोल रत्न हैं। इनके काव्य के विविध पक्षों पर कुछ नए ढंग से सोचने का प्रयास किया है।

भारतेन्दु को हिन्दी नवजागरण का अग्रदूत माना जाता है। उन्होंने अपने साहित्य के माध्यम से पूरे युग को नई दिशा प्रदान की। एक लेख में उनके युग का तथा दूसरे में उनके द्वारा अनूदित नाटकों की मौलिकता और उद्देश्य का मूल्यांकन किया गया है। भारतीय नवजागरण में आर्य समाज की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। आर्यसमाज की विचारधारा का हिन्दी साहित्य पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा है। 'नवजागरण, आर्य समाज और हिन्दी साहित्य' शीर्षक लेख में इसका ही विवेचन है। एक लेख में सरस्वती के सम्पादक, युग निर्माता आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की आलोचना–दृष्टि पर प्रकाश डाला गया है। गुरुकुल काँगड़ी के संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द हिन्दी के अच्छे साहित्यकार थे, यह बहुत कम लोगों को ज्ञात है। उनकी आत्मकथा 'कल्याणमार्ग का पथिक' हिन्दी की प्रारम्भिक और महत्वपूर्ण आत्मकथा है। इस पर भी एक लेख संकलन में शामिल किया गया है।

कथाकार प्रेमचन्द का तेवर कहीं–कहीं विद्रोही हो गया है, यह उनकी अंतिम कहानियों के अध्ययन से प्रमाणित हो जाता है। 'विद्रोही प्रेमचन्द

और उनकी अंतिम कहानियाँ' लेख में इसी बात को उठाया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की हिन्दी साहित्येतिहास–दृष्टि का मूल्यांकन कई विद्वान समीक्षकों ने किया है। मेरा मूल्यांकन भी इस दिशा में किया गया एक विनम्र प्रयास है। पं0 इन्द्र विद्यावाचस्पति को हिन्दी पत्रकारिता का भीष्मपितामह माना जाता है। पत्रकारिता के उनके अनुभवों का आकलन एक लेख में है।

हिन्दी काव्य में गंगा का विशद वर्णन है। रीतिकाल में तो गंगा पर कई स्वतंत्र काव्य लिखे गये। विदेशी विद्वानों का भी गंगा के प्रति असीम प्रेम रहा है। 'हिन्दी काव्य में गंगा' शीर्षक लेख में इन सबका ही उल्लेख है।

हिन्दी नवगीत नयी कविता के साथ–साथ प्रवाहित होने वाली विशिष्ट काव्य धारा है जिसकी वस्तु और शिल्प के स्तर पर अपनी अलग पहचान है। परिचित–अपरिचित अनेक नवगीतकारों ने अपनी लेखनी से इस काव्यधारा को समृद्ध किया है। नवगीत विषयक लेख में प्रमुख हस्ताक्षरों का ही परिचय दिया गया है।

सन् 1993 में प्रकाशित सुरेन्द्र वर्मा का 'मुझे चाँद चाहिए' उपन्यास विधा में एक नूतन प्रयोग है। इसके कथ्य और शिल्प दोनों में ही नवीनता है। हिन्दी जगत् में इस उपन्यास का व्यापक स्वागत हुआ है। इसलिए मैंने एक लेख इस पर भी दिया है। 'मुझे चाँद चाहिए' के थोड़े ही दिनों बाद मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'इदन्नमम' प्रकाश में आया। ग्रामीण पृष्ठभूमि पर आधारित यह उपन्यास नारी संघर्ष की गाथा है। इस पर भी मैंने एक लेख लिखना उचित समझा है।

'देवरात' तथा 'नभग' डॉ0 विष्णुदत्त राकेश के प्राचीन कथानकों पर आधारित आधुनिक बोध सम्पन्न खण्डकाव्य हैं। काव्य–कला–मर्मज्ञों ने इन दोनों काव्यों की भूरि–भूरि प्रशंसा की है। संकलन में दो लेख इन पर भी हैं। 'लघुकथा' हिन्दी गद्य की नव्यतम विधा है। समृद्ध साहित्य होते हुए भी अभी यह अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रही है। संकलन का अंतिम लेख 'हिन्दी लघु कथा : सृजन और संघर्ष' है।

हिन्दी साहित्य के इन विविध परिदृश्यों को यदि एकता के सूत्र में बाँध दिया जाय तो हिन्दी साहित्येतिहास की एक नयी तस्वीर उभर आएगी। यह कार्य मैं पाठकों पर छोड़ रहा हूँ।

मैं अपने विश्वविद्यालय के कुलपति श्रद्धेय डॉ0 धर्मपाल जी तथा अपने ही विभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष श्रद्धेय डॉ0 विष्णुदत्त राकेश जी का हृदय से आभारी हूँ जिनकी प्रेरणा और आशीर्वाद से यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। श्रद्धेय डॉ0 त्रिभुवन सिंह जी, पूर्व कुलपति, महात्मा गांधी काशी विद्यापीठ मेरे गुरु हैं। उनकी तो सदैव मुझ पर कृपा रही है। यह ग्रंथ उन्हीं को समर्पित है।

धर्मपत्नी विमला देवी तथा सुपुत्री कु0 सीमा वैश्य को धन्यवाद देना औपचारिकता होगी। मेरा कुछ छपा हुआ देखकर इन्हें अधिक प्रसन्नता होती है। मेरे प्रिय शिष्य श्री सुशील उपाध्याय ने इस ग्रंथ का प्रूफ शोधन किया है। वे साधुवाद के पात्र हैं।

सन्त राम वैश्य
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

15, अगस्त 1999

1
संस्कृति और सभ्यता

संस्कृति

कुछ शब्द ऐसे होते हैं, जिन्हें परिभाषा के दायरे में नहीं बाँधा जा सकता। संस्कृति भी उनमें से एक है। अत्यन्त व्यापक और गतिमान होने से इसे किसी सीमा में बाँधकर पारिभाषिक रूप से इस पर विचार करना उपयुक्त भी नहीं है।

भारतीय साहित्य में संस्कृति की अवधारणा बड़ी प्राचीन है। डा0 मंगल देव शास्त्री ने 'छान्दोग्योपनिषद्', 'शतपथ ब्राह्मण' और 'तांड्य महाब्राह्मण' से उदाहरण देकर इस शब्द की प्राचीनता की पुष्टि की है।[1] पर प्राचीन साहित्य में संस्कृति की चर्चा अधिक नहीं है। वहाँ इसका समाहार प्रायः धर्म में हो गया है।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह शब्द संस्कृत की 'कृ' धातु में 'क्तिन्' प्रत्यय और 'सम्' उपसर्ग जोड़ने से निष्पन्न है, जिसका मूल अर्थ है – किया गया कार्य, व्यवहार, आचार आदि। अर्थात् मानव जीवन के विकास और परिष्कार को ध्यान में रखकर किए गए क्रिया–कलापों का लेखा–जोखा।

संस्कृति का प्रयोग व्यापक और संकीर्ण – इन दो अर्थों में होता है। व्यापक अर्थ में इसका प्रयोग 'नृ'विज्ञान (Anthropology) में मिलता है जहाँ इसे सभ्यता का पर्याय माना गया है, और कहा गया है कि संस्कृति, उस समस्त सीखे हुए व्यवहार का नाम है जो हमें सामाजिक परम्परा से प्राप्त होता है। इसके विपरीत संकीर्ण अर्थ में यह व्यक्तित्व को परिष्कृत करने वाले एवं समृद्ध बनाने वाले गुणों का समुदाय मानी जाती है।

अनेक विद्वानों ने संस्कृति को परिभाषित करने का प्रयास किया है।

श्री प्रभुदयाल मीतल के अनुसार – "संस्कृति, किसी भी देश, जाति या समाज की आत्मा होती है, जिसमें उक्त देश, जाति या समाज के चिन्तन–मनन, आचार–विचार, रहन–सहन, बोली, भाषा, वेशभूषा, कला–कौशल आदि सभी बातों का समावेश होता है।"[2]

डा0 मुंशीराम शर्मा के अनुसार–"किसी देश, प्रदेश, अथवा प्रान्त की संस्कृति की चर्चा करने का हमारा उद्देश्य केवल उस प्रदेश के विकसित आचार–व्यवहार, रीति–रिवाज, पर्व, उत्सव, संस्कार, कला–कौशल, ज्ञान–विज्ञान, पूजा आदि के विधि–विधानों का ही उल्लेख करना होता है।"[3]

प्रसिद्ध विद्वान डा0 सत्यकेतु विद्यालंकार ने संस्कृति पर अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि – "चिन्तन द्वारा अपने जीवन को सरस, सुन्दर और कल्याणमय बनाने के लिए मनुष्य जो यत्न करता है, उसका परिणाम संस्कृति के रूप में प्राप्त होता है।"[4]

कुछ इसी प्रकार की धारणा व्यक्त करते हुए डा0 बलदेव प्रसाद मिश्र कहते हैं कि–" संस्कृति और कुछ नहीं, जीवन में सौन्दर्य के निर्माण और विकास की प्रक्रिया है।"[5]

डा0 वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार – "संस्कृति, मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगीण प्रकार है। विचार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन है, वही उसकी संस्कृति है।"[6] कुछ ऐसे ही विचार डा0 हरवंश लाल शर्मा के भी हैं, जिन्होंने संस्कृति को मानव की सम्पूर्ण जीवन शक्तियों और प्रगतिशील साधनाओं का सामूहिक रूप माना है।[7]

श्री शिव स्वरूप सहाय ने संस्कृति की तुलना व्यक्तित्व से की है और कहा है कि "जो मानव में व्यक्तित्व है वही समाज में संस्कृति।"[8]

संस्कृति की एक बड़ी अच्छी परिभाषा डा0 देवराज ने दी है। उनके अनुसार–"संस्कृति का सम्बन्ध मुख्यतः मनुष्य की बुद्धि, स्वभाव, तथा मनोवृत्तियों (एटीट्यूड्स) से है। वस्तुतः यह उन गुणों का समुदाय है, जिन्हें मनुष्य अनेक प्रकार की शिक्षा द्वारा अपने प्रयत्न से प्राप्त करता है।"[9] लेकिन यहाँ एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि कुछ गुण मनुष्य को पारिवारिक दाय के रूप में भी मिलते हैं, जिनका मनुष्य के चरित्र–निर्माण में बड़ा योग रहता है। यहाँ डा0 राधाकृष्णन का यह कथन अधिक तर्कसंगत है कि–"संस्कृति वह ज्योति है जो एक पीढ़ी, दूसरी पीढ़ी को सौंपती है, जिससे राष्ट्रीय जीवन की परम्परा बनी रहे"[10]

दिनकर के शब्दों में – "यह (संस्कृति) जिन्दगी का एक तरीका है, और यह तरीका सदियों में जमा होकर उस समाज में छाया रहता है,

जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसीलिए जिस समाज में हम जी रहे हैं या जिस समाज में हमने जन्म लिया है, उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है। इस दृष्टि से संस्कृति वह चीज कही जा सकती है जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में सदियों के अनुभव का हाथ है।"[11]

डा0 नगेन्द्र के अनुसार – "संस्कृति जीवन के उन सूक्ष्मतर तत्वों की संहृति का नाम है, जिनसे मानव चेतना का संस्कार होता है। सारतः इन तत्वों का समाहार सत्य, शिव और सुन्दर के त्रिक् में हो जाता है। केवल सत्य, दर्शन का विषय है, केवल शिव नीति का और कला में मूलतः सुन्दर का ही माहात्म्य है। परन्तु संस्कृति में इन तीनों का सामंजस्य रहता है।[12]

संस्कृति सम्बन्धी कुछ ऐसे ही विचार व्यक्त करते हुए डा0 रामकुमार वर्मा ने लिखा है कि–संस्कृति पुरानी परम्पराओं द्वारा अर्जित की हुई निष्ठा है... जो हमारे अन्तर्जगत् का निर्माण करती है।

संस्कृति की जितनी चर्चा हमारे यहाँ हुई है, उससे कहीं अधिक पश्चिम में हुई अंग्रेजी में इसकी जगह 'कल्चर' शब्द का प्रयोग होता है। यह मूल शब्द 'कल्टीवेशन' से निष्पन्न है, जिसका अर्थ है–कृषि सम्बन्धी कार्य। कृषि में जिस प्रकार भूमि को संशोधित, बीज वपित तथा सिंचित करके शस्य–श्यामला बनाया जाता है, ठीक उसी प्रकार मानव को भी अनेक प्रकार के सद्गुणों द्वारा विकास युक्त करके सुसंस्कृत बनाया जाता है।

आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी में 'कल्चर' का अर्थ दिया है–

(1) विचार, रुचि और आचार का संशोधन (क्रिया)
(2) विचार, रुचि और आचार के संशोधन की अवस्था।
(3) सभ्यता का बौद्धिक अंग।
(4) विश्व में जो कुछ श्रेष्ठ, ज्ञात और कथित हो चुका है, उससे परिचय।

सुप्रसिद्ध समाजशास्त्री सोरोकिन ने संस्कृति को मानसिक विकास की प्रक्रिया माना है। उनके अनुसार – "संस्कृति उन मूल्यों, आदर्शों और स्थापनाओं का समूह है, जिसके अनुसार मनुष्य अपने जीवन की रीति और शैली का निर्माण करते हैं। मनुष्य अपने जीवन में जिन तथ्यों को सत्य, शिव

और सुन्दर मानते हैं, उनसे संस्कृति का रूप निर्मल होता है। अतः यह मानसिक विकास की प्रक्रिया है।"[14]

नृतत्वशास्त्रियों ने संस्कृति का विवेचन कुछ अलग ही ढंग से किया है। इनमें टेलर का विचार सबसे पुराना है और साथ ही सर्वांगीण भी। इनके अनुसार–"संस्कृति, वह समष्टि है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, नैतिक गुण, कानून, रिवाज और सामाजिक सदस्य के रूप में मनुष्य द्वारा उपलब्ध कोई अन्य सामर्थ्य और आदतें आती हैं।"[15]

रूडोल्फ ने माना है कि "संस्कृति वह जटिल विकासशील प्रक्रिया है जो अर्जित और नैसर्गिक संस्कारों के माध्यम से मानव की अंतः शक्तियों को प्रबुद्ध करके उसे सही रूप में अपने गुणों को प्राप्त करने में सक्षम बनाती है।"[16]

संस्कृति पर विचार व्यक्त करते हुए जहाँ मैकाइवर और पेज कहते हैं कि यह हमारी जीवन–विधा तथा विचार–विधा में, प्रतिदिन के परस्पर आदान–प्रदान तथा कला, साहित्य, धर्म, विज्ञान तथा मनोरंजन की विशिष्ट विधाओं में व्यक्त हमारी प्रकृति है।[17] वहीं बोआस का मत है कि संस्कृति सामाजिक समुदाय के घटक व्यक्तियों के व्यवहार को विश्लेषित करने वाली मानसिक तथा शारीरिक प्रतिक्रियाओं और क्रियाओं का समूहमात्र है।[18]

जोह्न गिल्लिन के अनुसार – "संस्कृति ऐसी संस्थानीकृत (पैटर्न्ड) तथा क्रियात्मक रूप से ग्रथित प्रथाओं को कह सकते हैं जो किसी विशिष्ट मानव व्यक्तियों में सामान्य हों।[19]

संस्कृति सम्बन्धी भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोण की तुलना करने पर यह स्पष्ट होता है कि भारतीय संस्कृति जहाँ अध्यात्म पर बल देती है, वहीं यूरोपीय संस्कृति बुद्धि पर। यूरोपीय संस्कृति में तर्क–वितर्क और खंडन–मंडन की प्रवृत्ति मिलती है जबकि भारतीय संस्कृति आस्था और विश्वास पर बल देती है।

थोड़े शब्दों में हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि संस्कृति हमारा आत्मिक विकास और नैतिक उन्नति है। हमारा वह व्यवहार है जो हम एक दूसरे के साथ करते हैं; हमारी वह शक्ति है, जिससे हम दूसरों को समझ

पाते हैं। यह, वह अखण्ड ज्योति है जो सतत् प्रज्ज्वलित रहते हुए हमारा मार्ग प्रशस्त करती है।

सभ्यता

सभ्यता 'सभ्य' शब्द की भाववाचक संज्ञा है। सभ्य वह है जो सभा का सदस्य हो। महर्षि पाणिनि ने सभा में साधु आचरण करने वाले को ही सभ्य माना है। किन्तु अर्थ विस्तार से यह शब्द आज अपने मूल अर्थ से हट गया है। अब 'सभ्यता' शब्द मनुष्य के रहन–सहन की श्रेष्ठता का प्रतीक बन गया है। मानक हिन्दी कोश में सभ्यता का अर्थ दिया गया है – 1. सभ्य होने की अवस्था, गुण या भाव, 2. किसी सभा या समाज की सदस्यता, 3. शीलवान और सज्जन होने की अवस्था और भाव, 4. किसी जाति या देश की बाह्य तथा भौतिक उन्नतियों का सामूहिक रूप।[20]

डा0 भगवतशरण उपाध्याय के शब्दों में – "आदिमकाल से लेकर आज तक मनुष्य ने जो आशातीत उन्नति की, उसकी दो दिशाएँ हुईं। पहली, उसके आध्यात्मिक विकास की दिशा है, जिसमें उसने विचार तथा कर्म के क्षेत्र में तमाम सृजन किया तथा ज्ञान–विज्ञान, कला, दर्शन इत्यादि क्षेत्रों में उन्नति की। दूसरी दिशा उसके भौतिक सुख–साधनों की पूर्ति की है, जिसमें उसने जीवन को सरस, सुन्दर और सुखमय बनाने के लिए प्राकृतिक साधनों का अनेक ढंग से प्रयोग कर बाह्य उन्नति की। यही दोनों दिशाएँ क्रमशः संस्कृति और सभ्यता की दिशाएँ हैं। जहाँ संस्कृति मानव विकास के सुन्दर, शालीन, सूक्ष्म तत्वों की ओर संकेत करती है, वहीं सभ्यता, उसकी स्थूल और आविष्कार की दिशा की ओर। लेकिन सभ्यता और संस्कृति ये दोनों ही मानव की सृजनात्मक क्रिया के परिणाम हैं। इस क्रिया के मूल्य चेतना को प्रबुद्ध करने की ओर अग्रसर होने से संस्कृति तथा उपयोग लक्ष्य की ओर गतिमान होने से सभ्यता का जन्म होता है।[21]

'सभ्यता' को अनेक विद्वानों ने परिभाषित करने का प्रयास किया है। डा0 प्रसन्नकुमार आचार्य के अनुसार – "सभ्यता है – विशिष्ट बौद्धिक विकास, उच्च–नैतिक विचार एवं भौतिक सुख–समृद्धि। इसमें भौतिक उन्नति, व्यापारिक और औद्योगिक विकास, सामाजिक स्वतंत्रता, राजनीतिक प्रगति का भी समावेश होता है।[22] डा० देवराज के मत से – "वे सब कला–कौशल के तंत्र और तरीके जिनके द्वारा मनुष्य अपनी मूल क्षुधाओं तथा जरूरतों को सरलतापूर्वक पूरा करता है, सभ्यता कहलाती हैं।"[23]

हिन्दी साहित्यकोश में भी सभ्यता की परिभाषा कुछ इसी प्रकार से दी गई है – "सभ्यता से तात्पर्य उन आविष्कारों, उत्पादन के साधनों एवं सामाजिक, राजनीतिक संस्थाओं से समझना चाहिए, जिनके द्वारा मनुष्य की जीवन–यात्रा सरल और स्वतंत्रता का मार्ग प्रशस्त होता है।" [24]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर निष्कर्ष रूप में सभ्यता के सम्बन्ध में यदि हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि यह मनुष्य की भौतिक उन्नति है। जीवन को सुख–समृद्धिमय बनाने के लिए बौद्धिक रूप से किया गया विकास है।

जहाँ संस्कृति और सभ्यता के सम्बन्धों की चर्चा उठी, वहाँ विद्वानों में प्रायः मतभेद रहा। किसी ने दोनों को अलग–अलग माना तो किसी ने एक ही में समेटने की कोशिश की।

श्री प्रभुदयाल मीतल के अनुसार – "कभी–कभी सभ्यता और संस्कृति को समानार्थक समझ लिया जाता है, किन्तु यह ठीक नहीं है। सभ्यता का सम्बन्ध बाहरी बातों से है, जबकि संस्कृति भीतरी गुणों से सम्बन्धित है। सभ्यता केवल भौतिक और शारीरिक उन्नयन है, जबकि संस्कृति मानसिक और बौद्धिक विकास है।"[25]

श्री शिवस्वरूप सहाय के विचार से – "सिविलिजेशन' और 'कल्चर' दोनों ही विरोधी शब्द हैं।... इन दोनों का अन्तर ठीक वही है जो व्यक्ति का और व्यक्तित्व का। व्यक्ति बाह्य पक्ष है और व्यक्तित्व आन्तरिक। ठीक इसी प्रकार अनुभूति जीवन का आन्तरिक पक्ष है और क्रिया उससे प्रेरित बाह्य पक्ष। यही बाह्य पक्ष सभ्यता है और आन्तरिक पक्ष संस्कृति।"[26]

डा0 मुंशीराम शर्मा के अनुसार – "संस्कृति और सभ्यता दो भिन्न–भिन्न स्थितियों की द्योतक हैं। एक को आत्मा तो दूसरी को शरीर कहा जा सकता है। संस्कृति आन्तरिक नैर्मल्य है, तो सभ्यता बाह्य प्रसाधन। एक में शान्ति है तो दूसरी में चमक–दमक। एक में प्रबुद्धता है तो दूसरी में उपयोगिता। एक केन्द्र की ओर प्रत्यावर्तन करती है तो दूसरी परिधि की ओर प्रगति। एक में निःश्रेयस् है तो दूसरी सें अभ्युदय। एक में नितान्त ऐकान्तिकता है तो दूसरी में सामाजिकता।

सभ्यता निश्चित रूप से भौतिक है। वह बाह्य आभूषण मात्र है। संस्कृति आत्मा का श्रृंगार करती है, हृदय को उदात्त बनाती है तथा मन को

विमल विचारों से सुशोभित करती है। सभ्यता बहिर्मुखी है तो संस्कृति अन्तर्मुखी। सभ्यता नवीन आविष्कारों, उत्पादन के साधनों तथा सामाजिक संस्थाओं से अपने स्वरूप को उन्नत करती है और जीवनयात्रा को सुगम तथा सरल बनाती है। संस्कृति इनके अभाव में भी फलती–फूलती है।"[27]

वाचस्पति गैरोला के अनुसार – "संस्कृति का आधार मुख्यतः आचारों से और सभ्यता का विचारों से है। आचारों से संस्कृति का और विचारों से सभ्यता का निर्माण हुआ है। इस दृष्टि से आचारों और विचारों का पारस्परिक जो सम्बन्ध है, संस्कृति और सभ्यता का सामान्यतः वही सम्बन्ध है।"[28]

दिनकर ने माना है कि – "सभ्यता वह चीज है जो हमारे पास है और संस्कृति वह गुण है जो उसमें व्याप्त है।"[29]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार–"सभ्यता मनुष्य के बाह्य प्रयोजनों को सहज लभ्य करने का विधान है और संस्कृति प्रयोजनातीत अन्तर आनन्द की अभिव्यक्ति।[30] सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के आन्तर विकास का। सभ्यता की दृष्टि वर्तमान सुविधा–असुविधा पर रहती है, संस्कृति की भविष्य या अतीत के आदर्श पर। सभ्यता नजदीक की ओर दृष्टि रखती है, संस्कृति दूर की ओर। सभ्यता का ध्यान व्यवस्था पर रहता है, संस्कृति का व्यवस्था से परे किसी अन्य केन्द्र पर। सभ्यता के निकट कानून मनुष्य से बड़ी चीज है परन्तु संस्कृति की दृष्टि में मनुष्य कानून से परे है। सभ्यता बाह्य होने के कारण चंचल है और संस्कृति आन्तरिक होने के कारण स्थायी।"[31]

भगवतशरण उपाध्याय के शब्दों में – "कहना न होगा कि सभ्यता और संस्कृति एक ही मानव विकास के दो पहलू हैं। सभ्यता स्थूल होती है और आविष्कार की दिशा की ओर संकेत करती है, तो संस्कृति उस विकास के चित्रित, सुन्दर शालीन सूक्ष्म तत्वों की ओर। आदिम बनैली स्थिति से सामाजिक जीवन की ओर मनुष्य की प्रगति को सभ्यता कहते हैं। संस्कृति उसी प्रगति की सत्य, शिव, सुन्दर और रुचिर परम्परा का नाम है।"[32]

पाश्चात्य जगत के महान् विचारक एवं प्रसिद्ध समाजशास्त्री 'ओडम' के विचार से – "संस्कृति, समाज के विकास का सर्वोच्च साधन है जबकि सभ्यता अपने उद्देश्यों की पूर्ति का। संस्कृति प्रमुख सामाजिक क्रिया और

सामाजिक माध्यमों का प्रतीक है जबकि सभ्यता सामाजिक पदार्थों और भौतिकी तकनीकी साधनों का।"[33]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि सभ्यता हमारा आचार पक्ष है और संस्कृति विचार पक्ष। जहाँ संस्कृति से आदमी की अन्दर की हालत का पता चलता है, वहाँ सभ्यता से उस अन्दर की हालत की बाहरी रूपरेखा का।

सभ्यता और संस्कृति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें आपस में स्पष्ट रूप से भेदक रेखा खींचना अत्यन्त कठिन है। हम दोनों को एक–दूसरे के पर्यायवाची के रूप में तो नहीं, लेकिन पूरक के रूप में जरूर मान सकते हैं। मेरी समझ से तो एक के बिना दूसरे की कल्पना भी असम्भव है।

सभ्यता और संस्कृति दोनों साथ–साथ विकसित होती हैं और एक–दूसरे को प्रभावित भी करती रहती हैं। लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि सभ्यता के पूर्ण विकास की अवस्था में संस्कृति का भी पूर्ण विकास हो। आज विश्व के अनेक सभ्य कहे जाने वाले राष्ट्र सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से बहुत पीछे हैं, जबकि असभ्य कहे जाने वाले ग्रामीण लोग इस दृष्टि से नगरीय लोगों से बहुत आगे हैं। इतना अवश्य है कि सभ्यता के समृद्ध होने से संस्कृति के विकास में सहजता आ जाती है, जिससे साहित्य, धर्म, दर्शन, कला–कौशल तथा ज्ञान–विज्ञान आदि की आशातीत उन्नति होती है।

संदर्भ

1. देखिये – भारतीय संस्कृति का विकास (वैदिक धारा) – डा0 मंगल देव शास्त्री, पृ. 3–4।
2. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास (प्रथम भाग) – प्रभुदयाल मीतल, पृ. 83।
3. भारतीय साधना और सूर साहित्य–डा0 मुंशीराम शर्मा, पृ. 369।
4. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास–डा0 सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ. 19।
5. भारतीय संस्कृति – डा० बलदेव प्रसाद मिश्र, पृ. 4।
6. कला और संस्कृति – वासुदेव शरण अग्रवाल पृ. 3।
7. सूर और उनका साहित्य – डा0 हरवंश लाल शर्मा, पृ. 394।
8. भारतीय संस्कृति – प्रो० शिवस्वरूप सहाय, पृ. 6।
9. भारतीय संस्कृति – डा0 देवराज, पृ. 21।
10. उद्धृत् – मानव संस्कृति – भगवानदास केला, पृ. 25।
11. हमारी सांस्कृतिक एकता – रामधारी सिंह दिनकर, पृ. 4।
12. लेख – आज का नवलेखन और सांस्कृतिक विघटन – डॉ0 नगेन्द्र (धर्मयुग, 2 जून, 1968)
13. साहित्य शास्त्र – डा0 रामकुमार वर्मा, पृ. 129।
14. उद्धृत – भारतीय संस्कृति की रूपरेखा – डा० पृथ्वी कुमार अग्रवाल, पृ. 7।
15. Primitive Culture - E.B. Taylor, page 1
16. Experience and Culture - Rudolph R. Weingarthner, page 72-73.
17. सोसाइटी – मैकाइवर तथा पेज।
18. दि माइंड ऑफ प्रिमिटिव मैन–फ्रेंच बोआस, पृ. 159।
19. दि बेज़ ऑफ मैन – जोह्न गिल्लिन, पृ. 178।
20. मानक हिन्दी कोश–सम्पादक–रामचन्द्र वर्मा, पाँचवाँ भाग, पृ. 277।
21. सांस्कृतिक भारत–भगवतशरण उपाध्याय, पृ. 12।
22. भारतीय संस्कृति और सभ्यता – प्रसन्न कुमार आचार्य
23. संस्कृति का दार्शनिक विवेचन – डा0 देवराज, पृ. 167।
24. हिन्दी साहित्य कोश, भाग–1, सम्पादक–धीरेन्द्र वर्मा, पृ. 868, 869।

25. ब्रज का सांस्कृतिक इतिहास (प्रथम भाग) – प्रभुदयाल मीतल, पृ. 83।
26. भारतीय संस्कृति – प्रो0 शिवस्वरूप सहाय, पृ. 6।
27. वैदिक संस्कृति और सभ्यता – डा0 मुंशीराम शर्मा, पृ. 15–16।
28. भारतीय संस्कृति और कला–वाचस्पति गैरोला, पृ. 82।
29. हमारी सांस्कृतिक एकता – दिनकर, पृ. 1।
30. अशोक के फूल – हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 83।
31. विचार और वितर्क – हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 131।
32. देखिये – सांस्कृतिक भारत, भगवतशरण उपाध्याय, पृ. 12।
33. Understanding Society - Odem, page 15

2

संस्कृति के विविध आयाम

संस्कृति मूलतः इतिहास का अंग है, किन्तु इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसमें साहित्य, संगीत, कला, धर्म, दर्शन, राजनीति, लोकवार्ता आदि सभी का समावेश होता है। साहित्य, समाज की आत्मा तथा उसका व्यक्तित्व है। इसमें हमें जहाँ समाज के दर्शन होते हैं, वहीं परोक्ष रूप से संस्कृति की भी झलक मिलती है। साहित्य का जन्म संस्कृति से ही होता है। साहित्य भी संस्कृति के विकास में अपूर्व योग देता है। साहित्य और संस्कृति के सम्बन्धों की चर्चा करते हुए डा0 मुंशीराम शर्मा लिखते हैं-- "संस्कृति की अभिव्यक्ति साहित्य में होती है तो साहित्य द्वारा संस्कृति का पोषण भी होता है। साहित्य जहाँ जीवन का प्रतिनिधित्व करता है, वहाँ उसका संचालक भी है। जहाँ वह संस्कृति का चित्र खींचता है, वहाँ उसे प्रेरणा भी देता है। संस्कृति के सभी सत् तत्व साहित्य में संरक्षण पाते हैं, जिनका अध्ययन एवं अनुशीलन अध्येता के अन्दर विचारों को उत्तेजित करता है और परिणामतः चिन्तन का क्षेत्र उर्वर बनता है।"[1]

संस्कृति का धर्म से भी बड़ा गहरा सम्बन्ध है। यद्यपि यह अपनी अभिव्यक्ति कला एवं साहित्य के माध्यम से पाती है, लेकिन इसका प्रतिबिम्ब धर्म और उपासना में ही झलकता है।

धर्म बहुत व्यापक शब्द है। मोटे रूप में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि किसी वस्तु का वस्तुत्त्व ही उसका धर्म है। जैसे मनुष्यता ही मनुष्य का प्रकृत धर्म है। डा0 यशदेव शल्य के शब्दों में– "धर्म मानवीय अर्थ अथवा अन्वेषण के उस रूप को कह सकते हैं जो जीवन का लक्ष्य लोकोत्तर और परम चैतन्य की स्थिति की प्राप्ति को, अथवा परम चैतन्य के बोध की योग्यता की प्राप्ति को स्वीकार करता है। इस प्रकार से धर्म एक मूल्यबोध है, क्योंकि 'उत्कर्ष' इसके लिए मूल प्रत्यय है और उसका अन्वेषण या उपलब्धि इसकी मूल प्रेरणा।"[2]

वस्तुतः धर्म और संस्कृति का कोई विरोध नहीं है। दोनों में अन्तर केवल इतना ही है कि धर्म में जहाँ श्रुति, स्मृतियों और पुराणग्रन्थों का आधार रहता है, वहाँ संस्कृति में परम्परा का।

धर्म राष्ट्र निरपेक्ष है किन्तु संस्कृति का सम्बन्ध राष्ट्र से अधिक है। संस्कृति को धर्म से अलग करके न देखना ठीक नहीं है। डा0 त्रिभुवन सिंह के शब्दों में–"प्रायः लोग संस्कृति को धर्म से अलग करके नहीं देख पाते और इस प्रकार वे संस्कृति के परिवेश को अत्यन्त सीमित कर देते हैं। जिस प्रकार कलाओं का उदय मानव जीवन को सुखमय बनाने के लिए समय–समय पर होता रहता है, उसी प्रकार समय–समय पर धर्म की रूपरेखा भी निश्चित होती रहती है। धर्म मानव निर्मित है, धर्म मानव का निर्माता नहीं। कभी–कभी तो धर्म का अन्धानुकरण समाज के विकास में घातक सिद्ध होता है। इसीलिए कार्लमार्क्स ने धर्म को अफीम की संज्ञा दी है जो लोगों को सही दिशा में सोचने ही नहीं देता।"[3]

संस्कृति का दर्शन से भी बड़ा गहरा सम्बन्ध है। श्री वाचस्पति गैरोला के अनुसार – "संस्कृति की समग्रता की खोज करने के लिए उसके विचार साहित्य का अनुशीलन आवश्यक होता है। दर्शन ही इस विचार साहित्य के आगार हैं। संस्कृति की गहनता, गंभीरता, विशालता, स्थिरता और प्राचीनता आदि विभिन्न पहलुओं का सम्यक् विश्लेषण दर्शन साहित्य में ही निहित होता है।"[4]

संस्कृति का धर्म और दर्शन की तरह कला से भी गहरा सम्बन्ध है। कला क्या है, इस विषय में दो विद्वानों की परिभाषाएँ दे देना उपयुक्त होगा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में – "कला मनुष्यत्व की उपज है, मनुष्यत्व की उद्बोधक है और मनुष्यत्व की विजय ध्वजा है। कला का प्रयोजन है कि वह 'मनुष्य' को 'मनुष्य' बनाये, उसे पशु के सामान्य धरातल से ऊपर उठाये।"[5]

भगवानदास केला के अनुसार – "जिससे मनुष्य को सुख मिले, उसके ज्ञान की वृद्धि हो, तथा जिसमें उसे सौन्दर्य का अनुभव हो, वही कला है।"[6]

स्थूल जीवन में संस्कृति की अभिव्यक्ति कला को जन्म देती है। कला का सम्बन्ध जीवन के मूर्तरूप से है। संस्कृति को मन और प्राण कहा जाए तो कला ही उसका शरीर है। संस्कृति इसलिए आवश्यक है कि भविष्य में विचारों की दासता से मानव की रक्षा हो और कला इसलिए आवश्यक है कि यन्त्र की दासता से मनुष्य अपने को बचा सके।

लोकवार्ता और संगीत के माध्यम से संस्कृति का स्वरूप सुरक्षित रहता है। लोकवार्ता का जन्म जनता के मानस में होता है। यदि इनका संग्रह किया जाए तो उस आधार पर स्थान या देश–विशेष के निवासियों की अतीत से लेकर अब तक की बौद्धिक, नैतिक, धार्मिक एवं सामाजिक अवस्था का एक सम्पूर्ण चित्र हमारे सामने उपस्थित हो जाएगा। संगीत के माध्यम से ही संस्कृति स्थायित्व प्राप्त करती है और साथ ही गति भी।

संस्कृति का प्रसार मात्र धर्म, दर्शन और कला तक ही सीमित नहीं है, वरन् इसका सम्बन्ध व्यक्ति, कुल, समाज, जाति तथा राष्ट्र से भी है। यह व्यक्ति, कुल; समाज जाति तथा विश्व– भर के समक्ष आदर्शों की प्रतिष्ठा करती है। ये आदर्श परम्परा में परिचालित तथा पोषित होकर अनेक पीढ़ियों तक चलते रहते हैं और आगे आने वाली संतति को प्रेरणा भी देते रहते हैं।

यद्यपि संस्कृति के निर्माण में व्यक्ति का हाथ रहता है लेकिन वह व्यक्ति मात्र अथवा थोड़े से ही व्यक्तियों की वस्तु नहीं होती और न ही उसे व्यक्ति–विशेष के प्रयत्न का परिणाम ही कहा जा सकता है। संस्कृति समाज के अनगिनत व्यक्तियों के सामूहिक प्रयत्न का परिणाम होती है और यह प्रयत्न भी ऐसा, जिसे एक के बाद एक आने वाली मनुष्यों की विविध संततियाँ निरन्तर करती रहती हैं।

व्यक्ति से उठकर संस्कृति परिवार के स्तर तक आती है। परिवार, मानव संस्कृति की प्रारम्भिक पाठशाला है। यह समाज की एक छोटी इकाई है। परिवार में आदमी जिस संयम, त्याग और सेवा आदि का अभ्यास करता है, उसके प्रयोग की समाज में पग–पग पर जरूरत होती है।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है अतः उसकी संस्कृति का विकास सामाजिक व सामूहिक रूप में ही होता है। संस्कृति ही समाज के विकास के प्रवाह का दिशा निर्धारण करती है। जब किसी समाज के अधिकतर व्यक्ति अच्छे चरित्र और स्वभाव वाले, स्वावलम्बी, परिश्रमी और एक दूसरे के प्रति सद्भावना और सहानुभूति रखने वाले हों, तो वह समाज निरन्तर उन्नति करता रहता है, उसका खासकर नैतिक स्तर ऊँचा होता है। वह समाज सुसंस्कृत समाज कहलाता है। उसकी संस्कृति ऊँचे दर्जे की मानी जाती है।

कुछ विद्वान जाति के आधार पर भी संस्कृति का भेद करते हैं, जैसे– भारतीय संस्कृति, ईरानी संस्कृति, मुस्लिम संस्कृति आदि। लेकिन यह उचित नहीं है। मनुष्य जाति एक ही है, उसकी संस्कृति भी एक है। हाँ! अलग–अलग प्रदेश के निवासियों में वातावरण, जलवायु, वर्षा, उपज, भौगोलिक स्थिति, नदी, पहाड़, जंगल आदि की भिन्नता के कारण कुछ असमानताएँ हो जाना स्वाभाविक है। इसलिए विविध भूखण्डों के निवासियों में विकास की प्रवृत्ति और दिशाओं में समानता होते हुद भी कुछ भेद हो जाता है। वे अपने सामाजिक संगठन, रीति–व्यवहार, जीवन के उद्देश्य या ध्येय आदि के सम्बन्ध में अलग–अलग विचारों और धारणाओं या विश्वासों वाले हो जाते हैं। अतः एक प्रदेश के निवासियों की बहुत सी परम्पराएँ दूसरे प्रदेश के निवासियों से अलग ढंग की हो जाती हैं।

मनुष्य के सांस्कृतिक विकास की अगली मंजिल राष्ट्र है। श्री हंसकुमार तिवारी के शब्दों में – "विचार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्र का जो सृजन है, वही उसकी संस्कृति है। संस्कृति विश्व के प्रति अनन्य मैत्री की भावना है। प्रत्येक राष्ट्र की दीर्घकालीन ऐतिहासिक हलचल का लोकहितकारी तत्व उसकी संस्कृति है। वह राष्ट्रीय जीवन की आवश्यकता है तथा मानवीय जीवन को अध्यात्म प्रेरणा प्रदान करने वाली है।"[7]

संस्कृति चाहे नगर की हो या गाँव की, सबमें प्रसार की एक गति होती है। जहाँ नागरिक संस्कृति का प्रसार विद्वानों की लेखनी और वाणी द्वारा होता है, वहाँ ग्रामीण संस्कृति का मौखिक रूप में। ग्रामीण संस्कृति का प्रसार जंगल की आग की तरह होता है।

संस्कृति चाहे वैयक्तिक हो या सामाजिक, उसका मुख्य कार्य पाशविक प्रवृत्तियों को कम करना और मानवीय गुणों को बढ़ाना है। हमेशा से काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, द्वेष, घृणा, स्वार्थ, क्रूरता इत्यादि हिंसात्मक भावों को कम करना और इनकी जगह प्रेम, सद्भाव, सहानुभूति, सहयोग, सेवा और त्याग तथा उपकार आदि अहिंसात्मक वृत्तियों को जगाना और बढ़ाना यही मनुष्य की व्यक्तिगत संस्कृति का सार रहा है।

संस्कृति मूलतः समन्वयात्मक है। यह हमारे जीवन के अभ्युदय का मार्ग प्रशस्त करती है। इस संदर्भ में यह हमारे मन का मन और प्राणों का प्राण है। यह जीवन के संवर्धन का सबसे पोषक तत्व तथा जीवन की समग्रता का दर्शन कराने वाला प्रकाश–पुंज है। राजनीति, अर्थशास्त्र,

धर्मशास्त्र, समाजशास्त्र, विज्ञान एवं प्रविधि, सभी को आत्मसात् करते हुए संस्कृति एक ऐसा व्यापक एवं विस्तृत परिवेश प्रस्तुत करती है, जहाँ मानव मन अपने विकास की ऊँची उड़ान भर सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृति के विविध आयाम हैं। इसका विस्तार मात्र साहित्य, समाज, राष्ट्र, परिवार, दर्शन, कला इत्यादि तक ही सीमित नहीं है, वरन् इसका विस्तार तो संपूर्ण जीवन में है, जीवन का कोई अंग इससे अछूता नहीं है।

संदर्भ

1. वैदिक संस्कृति और सभ्यता – डा0 मुंशीराम शर्मा, पृ. 17
2. संस्कृति : मानव कर्त्तृत्व की व्याख्या, डा0 यशदेव शल्य, पृ. 117
3. शांतिनिकेतन से शिवालिक तक – सम्पा0 डा0 शिवप्रसाद सिंह में, डा0 त्रिभुवन सिंह का लेख, पृ. 85।
4. भारतीय संस्कृति और कला – वाचस्पति गैरोला
5. उद्धृत – मानव संस्कृति – भगवानदास केला, पृ. 116
6. वही, पृ. 116
7. आलोचना – जनवरी 1954 लेख–कला, सौंदर्य और संस्कृति – हंसकुमार तिवारी।

3

संस्कृति, समाज और साहित्य

संस्कृति का समाज और साहित्य से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। संस्कृति तथा साहित्य दोनों का विकास समाज के अन्तर्गत ही होता है। समाज से अलग हटकर न तो साहित्य की कल्पना की जा सकती है और न ही संस्कृति की। साहित्य में हमें जहाँ समाज के दर्शन होते हैं, वहीं उसमें परोक्ष रूप से संस्कृति की भी झलक मिलती है। साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध साहित्य और संस्कृति के विषय में भी बिल्कुल ठीक बैठता है। वस्तुतः साहित्य, संस्कृति तथा समाज मिलकर एक त्रिकोण बनाते हैं।

सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य के जीवन का सर्वांगीण विकास समाज में रहकर ही हुआ है, वह चाहे कला के क्षेत्र में हो, चाहे साहित्य के क्षेत्र में या ज्ञान–विज्ञानादि के क्षेत्र में।

संस्कृति का जन्म समाज से हुआ है, इसीलिए इसे 'समाज की उपज' कहा जाता है। यह समाज की आत्मा एवं उसका व्यक्तित्व है। यह सामाजिकता में इस प्रकार घुली–मिली रहती है कि इसका उससे पृथक्करण सम्भव नहीं है। इसके द्वारा ही समाज की आत्मा की अभिव्यक्ति होती है तथा उसके विकास के प्रवाह का दिशा–निर्धारण होता है।

संस्कृति का विकास समाज के ऊपर निर्भर रहता है। जिस समाज के अधिकतर व्यक्ति सच्चरित्रवान एवं उच्च नैतिक स्तर वाले होते हैं, उनकी संस्कृति भी उच्च होती है।

संस्कृति का ह्रास भी समाज द्वारा ही होता है। जब कोई समाज जड़–चिन्तन या भूतकाल की प्रशंसा मात्र में उलझ जाता है, तब वह संस्कृति के विकास में अवरोध उत्पन्न करता है।

संस्कृति ही ऐसी है जो समाज को विशृंखलित होने से बचाती है। यदि संस्कृति न रहे तो समाज बिखर जाय।

संस्कृति ही समाज तथा उसके व्यक्तियों के मन से कुत्सित वृत्तियों एवं हिंसात्मक भावों को निकालकर उनकी जगह प्रेम, सौहार्द्र, सद्भाव आदि

अहिंसात्मक भावों को बढ़ाती है, जिससे समाज में एकता और संगठन कायम रह सके। यद्यपि संस्कृति समाज के लिए होती है, समाज संस्कृति के लिए नहीं, फिर भी समाज, संस्कृति का जनक होने के नाते इसके विकास में सहायक होता है। संस्कृति की सुदृढ़ नींव पर ही समाज की भव्य इमारत खड़ी होती है।

संस्कृति का साहित्य से बड़ा निकट का सम्बन्ध है। संस्कृति समाज की आत्मा है और साहित्य समाज का हृदय। अतः आत्मा और हृदय में जो सम्बन्ध होता है वही साहित्य और संस्कृति में भी है। साहित्य, संस्कृति का वाहक है। साहित्य, कवि की अन्तरतम हृदयभूमि से उत्पन्न हुआ, संस्कृति का ही संदेश वहन करता है। संस्कृति के सभी अंग साहित्य द्वारा ही अभिव्यक्ति पाते हैं।

साहित्य क्या है, इसको स्पष्ट करते हुए भगवानदास केला ने लिखा है– "असल में साहित्य वही है, जिससे मनुष्य के विकास और उन्नति में सहायता मिले, जो पाठकों को ऊँचे आदर्श पर ले जाने वाला हो, जो मानवधर्म की शिक्षा दे, अर्थनीति, राजनीति और समाजनीति में संकीर्णता या खुदगर्जी को हटाकर सर्वोदय की भावना को प्रोत्साहित करे, जिससे आदमी अपना जीवन मनुष्य जाति की सेवा और कल्याण में लगाये।"[1]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि जो साहित्य का उद्देश्य है, वही संस्कृति का भी। इस कारण दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। संस्कृति, साहित्य की जन्मदात्री है, इस नाते साहित्य भी संस्कृति के विकास में योग देता है। किसी देश या जाति की संस्कृति का उचित संरक्षण उस देश या जाति के साहित्य में होता है। किसी भी देश की संस्कृति को समझने के लिए उस देश के साहित्य को समझना नितान्त आवश्यक होता है। साहित्य में बहुत कुछ सांस्कृतिक चेतना की ही अभिव्यक्ति होती है। साहित्य में उसके लेखक की वर्गीय संस्कृति के प्रभावों को बड़ी कुशलता के साथ सँजोकर रखा जाता है, अतः साहित्य और संस्कृति एक दूसरे से बहुत निकट सम्पर्क रखते हैं। संस्कृति की समस्त ज्ञान तथा बुद्धि की चेतना साहित्य में ही सुरक्षित तथा कायम रह सकती है।

साहित्य तथा संस्कृति दोनों का विकास अविच्छिन्न गति से होता रहता है। वह कहीं रुका भले रह जाए लेकिन उसके विकास की गति कहीं भंग नहीं होती।

संस्कृति के लिए समय सापेक्ष होना बहुत जरूरी है। लगभग यही बात साहित्य के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। समय तथा परिवेश से कटकर साहित्य अपना अस्तित्व बहुत कुछ खो देता है।

डा0 मुंशीराम शर्मा के शब्दों में–"साहित्य अभिव्यक्ति है उन सबकी जो कवि को अपने भूत और वर्तमान से प्राप्त होता है। संस्कृति, विशेष रूप से उसके काव्य–कलेवर का उपादान बनती है। यदि साहित्यकार वस्तुतः साहित्यकार है तो उसे अपने पूर्वजों के सांस्कृतिक रिक्थ से अवश्य परिचित होना चाहिए। जिस कवि के हाथ में जातियों का निर्माण और ध्वंस रहता है, वही यदि अपनी संस्कृति से अपरिचित होगा तो अपने उत्तरदायित्व का वास्तविक अर्थों में निर्वाह नहीं कर सकेगा। मानवता के विकास की साधिका संस्कृति अमर कवि के अमर काव्य में सन्निहित रहती है।"[2]

सांस्कृतिक तत्वों से युक्त या सांस्कृतिक काव्य लिखने के लिए साहित्यकार जीवन की यथार्थ कटुताओं को बचाकर भी उनका चित्रण कर हमें अनुभव सम्पन्न बनाता है। वह ऐसा इसलिए करता है, जिससे हम बिना भोगे जीवन के अवांछनीय पक्षों से अवगत हो सकें और उससे बचकर कल्याणकारी और मंगलमय पक्ष का वरण कर सकें। सांस्कृतिक काव्य–प्रणेता के अन्दर जीवन का व्यापक अनुभव, गहरी संवेदना और विशाल दृष्टि होनी चाहिए। उसे अपने समाज और युग से पूर्ण परिचित होना चाहिए। जो कवि अपने युग की उथल–पुथल को अपनी आँखों से देखकर तथा अध्ययन आदि द्वारा जीवन की व्यापक दृष्टि प्राप्त कर लेता है, वही सांस्कृतिक काव्य की रचना कर सकता है।

साहित्य जहाँ संस्कृति से जुड़ा है, वहीं समाज से भी। साहित्य ही ऐसा है जो लड़खड़ाते युग को पुनर्जीवन प्रदान कर सकता है। वह युग का प्रतिबिम्ब होता है। समाज के विविध विकृतियों के कारण कुंठित हो जाने, उसकी चेतना के निष्क्रिय हो जाने तथा उसकी आत्मा के कलुषित हो जाने की स्थिति में साहित्य ही समाज को नयी चेतना और नया जीवन देता है। इसीलिए साहित्य को समाज की जीवनदायिनी शक्ति कहा जाता है। साहित्य को देखकर समाज की स्थिति का सहज अनुमान लगाया जा सकता है। साहित्य की मूल प्रेरणाओं को समाज से अलग नहीं किया जा सकता और न ही साहित्य सर्जना के मूल प्रयोजनों को ही। प्रत्येक युग और समाज की परिस्थितियों और जीवन–मूल्यों के अलग–अलग होने के

कारण उन्हीं के अनुसार प्रेरणाएँ और प्रयोजनों में भी बदलाव हुआ करता है। और इसी के साथ साहित्य की प्रवृत्तियाँ भी बदलती रहती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि संस्कृति, साहित्य और समाज तीनों का आपस में बड़ा गहरा सम्बन्ध है। जिस प्रकार किसी राष्ट्र या देश के साहित्य से उसका समाज कभी अलग़ नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार उस देश या राष्ट्र के साहित्य से उसकी संस्कृति को भी कोई अलग नहीं कर सकता।

संदर्भ

1. मानव संस्कृति – भगवानदास केला, पृ0 108
2. वैदिक संस्कृति और सभ्यता – डा0 मुंशीराम शर्मा

4

कबीर की प्रासंगिकता

जब हम कबीर का नाम लेते हैं तो मस्तिष्क में एक सच्चे कर्मयोगी का चित्र उभर आता है, जिसके व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है–

"सिर से पैर तक मस्तमौला, स्वभाव से फक्कड़, आदत से अक्खड़, भक्त के सामने निरीह, वेशधारी के सामने प्रचण्ड, दिल के साफ, दिमाग के दुरुस्त, भीतर से कोमल, बाहर से कठोर, जन्म से अस्पृश्य, कर्म से वंदनीय।"

कबीर के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य है परम तत्व की प्राप्ति; और इस तत्व को प्राप्त करने का साधन है प्रेम।

कबीर ज्ञान की भी बात करते हैं, पर उनका यह ज्ञान शास्त्र–चिन्तन या तर्क से परे आत्म साक्षात्कार रूप है। ऐसे ही प्रेम का सहज रूप ही कबीर को मान्य है। कबीर की सबसे बड़ी देन यह है कि उन्होंने भक्ति को न केवल जन–जन तक पहुँचाया बल्कि उसे शास्त्र, सम्प्रदाय एवं जाति के बन्धनों से मुक्त भी किया। उनके विषय में कहा गया है–

भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द।
परगट किया कबीर ने, सप्त द्वीप नौ खंड।।

कबीर ने माना, कि ब्रह्म का स्वरूप निर्गुण है। उसकी सत्ता मंदिर और मस्जिद तक सीमित नहीं है। वह तो सर्वव्यापक है और सृष्टि के कण–कण में समाया हुआ है। ऐसे घट–घट व्यापी ब्रह्म को अपने अज्ञान के कारण हम देख नहीं पाते और उसे बाहर खोजते रहते हैं। कबीर के ही शब्दों में –

कस्तूरी कुंडलि बसै, मृग ढूंढै बन माहिं।
ऐसे घट–घट राम है, दुनिया देखै नाहिं।।

कबीर का ब्रह्म तो चिल्ला–चिल्लाकर कहता है कि 'मोको कहाँ ढूंढै बंदे, मैं तो तेरे पास में'।

कबीर की दृष्टि में सारे मनुष्य परमात्मा के बनाए हुए हैं। न कोई हिन्दू है, न मुसलमान; न कोई छोटा है, न बड़ा; न कोई ऊँच है, न कोई नीच। सब बराबर हैं। सबमें उसी का नूर समाया हुआ है–

एक नूर तैं सब जग कीया, कौन भला कौन मंदा।।

उस कुम्हार ने एक ही मिट्‌टी से अनेक प्रकार के मनुष्यों का निर्माण किया है–

1. माटी एक सकल संसारा, बहु बिधि भांडै घड़ै कुम्हारा।
2. एक़ै पवन एक ही पानी, एक जोति संसारा।

एक ही खाक़ घड़े सब भांडे, एक ही सिरजनहारा।।

इसलिए – नहिं कोउ ऊँचा, नहिं कोउ नीचा, जाका प्यंड ताही का सींचा।

कबीर सच्चे अर्थों में मानवता की बात करते हैं। उनकी दृष्टि में मानव–मानव एक है, न कोई ब्राह्मण है, न शूद्र–

एक बूंद एकै मल–मूतर, एक चाम एक गूदा।
एक जोति थैं सब उतपन्ना, कौन बाम्हन कौन सूदा।।

भेद मानने वालों को वे कड़ी फटकार लगाते हैं –

जो तू बाभन बभनी जाया, तौ आन बाट ह्वै काहे न आया।
जो तू तुरुक़ तुरकिनी जाया, तो भीतर खतना क्यों न कराया।

कबीर वेद और कुरान को झूठा नहीं मानते, बल्कि झूठा उन पंडित और मुल्लाओं को मानते हैं जिन्होंने इन धर्म ग्रन्थों के वास्तविक रहस्य का साक्षात्कार नहीं किया–

वेद – कतेब कहौ क्यूँ झूठा, झूठा जो न बिचारै।

कबीर की दृष्टि में इस जगत् से परे न कहीं स्वर्ग है, न कहीं नरक। राम–रहीम दोनों यहीं पर हैं।

उहाँ न दोजख भिस्त मुकामा, इहाँ ही राम इहाँ रहिमाना।।

कबीर ने छुआछूत की भावना का डटकर विरोध किया। छुआछूत मानने वालों को वे ललकारते हुए कहते हैं–

काहे को कीजै पांडे छोति विचारा।
छोतहि ते उपजा संसारा।
हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध।
तुम कैसे बाम्हन, हम कैसे सूद।
छोतहि छोति करत तुम्ह हौ जाए।
तो ग्रभवास काहे को आए।

कबीर ने धर्म के नाम पर किये जाने वाले आडम्बरों की भी खिलाफत की। यह कहना सही नहीं है कि उन्होंने हिन्दू समाज की अधिक आलोंचना की और मुसलमान समाज की कम। वस्तुस्थिति यह है कि जिस समाज में भी उन्हें बुराइयाँ दिखाई दीं, उसकी उन्होंने निन्दा की।

हिन्दुओं की मूर्तिपूजा पर प्रहार करते हुए वे कहते हैं–

दुनियाँ ऐसी बावरी, पाथर पूजन जाय।
घर की चक्की कोई न पूजै, जाका पीसा खाय।

काठ की माला धारण करने से हरि की प्राप्ति नहीं होती। हरि की प्राप्ति के लिए तो मन रूपी माला को फेरना पड़ता है–

माला पहरैं मनमुषी, ताथैं कछू न होइ।
मन माला कौं फेरता, जग उजियारा होइ।।

कबीर की दृष्टि में तिलक लगाना भी व्यर्थ है। यदि साधक का मन पवित्र नहीं है, तो वह इस प्रकार का आडम्बर करके अपने इस लोक को नष्ट कर लेता है–

छापा तिलक बनाइ कैं, दगध्या लोक अनेक।

परमात्मा की प्राप्ति के लिए केशों का मुँड़ाना आवश्यक नहीं है। यदि मुँड़ाना है तो मन को मुँड़ाओ, जिसमें अनेक विषय वासनाएँ एवं उनके विकार भरे रहते हैं–

केसौ कहा बिगाड़िया, जो मूँड़े सौ बार।
मन को काहे न मूड़िए, जामैं विषै विकार।।

कबीर बाह्याचार प्रधान तीर्थयात्रा के स्थान पर आभ्यंतर उपासना को महत्व प्रदान करते हैं–

मन मथुरा दिल द्वारिका काया कासी जांणि।
दसवां द्वारा देहुरा, तामैं जोति पिछांणि।।

कबीर ने मुसलमानों के आडम्बरों का भी विरोध किया है। अजान की सार्थकता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए वे कहते हैं–

1. काँकर पाथर जोरि कै मस्जिद लई बनाइ।
ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहिरा हुआ खुदाइ।।

2. मस्जिद ऊपर मुल्ला पुकारै
क्या साहब तेरा बहिरा है।

कबीर की दृष्टि में खुदा सिर्फ मस्जिद में ही निवास नहीं करता, बल्कि वह तो पूरे संसार में बसा हुआ है–

जो रे खुदाय मसीत बसतु है, अवर मुलुक केहि केरा।

कबीर जीवहत्या को पाप मानते हैं, तभी तो वे मुल्लाओं से पूछते हैं–

बकरी मुरगी किन फुरमाया।
किसके हुकुम तुम छुरी चलाया।

उन्होंने सुन्नत की भी व्यर्थता सिद्ध की है क्योंकि यह सिर्फ पुरुषों पर ही लागू होती है, महिलाओं पर नहीं।

हौं तो तुरक किया करि सुन्नति।
औरति को का करियै।

कबीर ने शाक्तों की भी निन्दा की है, क्योंकि वे गर्हित और असामाजिक क्रियाओं द्वारा जनता को दिग्भ्रमित और आतंकित कर रहे थे। देखें–

बैसनों की छपरी भली, ना साकत कौ बड़ गाउँ।

कबीर की प्रासंगिकता आज इसलिए नहीं है कि उन्होंने बाह्याडम्बरों का विरोध किया बल्कि वे प्रासंगिक इसलिए हैं कि उन्होंने जीवन–मूल्यों की बात की। उन्होंने देखा कि द्वैतभाव या भेददृष्टि सामाजिक समरसता को खण्डित कर रही है, तो सर्वप्रथम उन्होंने इसका ही खण्डन किया–

कहै कबीर एक राम जपहु रे, हिन्दू तुरक न कोई।

कबीर जीव को माया–मोह और प्रलोभनों से दूर रहने की बात कहते हैं। अन्यथा इनके जाल में उलझ कर जीव परमात्मा से विमुख हो जाता है। संसार तो नश्वर है, यहाँ किसी को अधिक दिन तक नहीं रहना है–

रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागद की पुड़िया, बूंद पड़े घुल जाना है।
यह संसार झाड़ अरु झाँखड़, उलझ–पुलझ मर जाना है।

यहाँ तो जो उत्पन्न होता है, उसे मरना ही है, इसलिए दुःख नहीं करना चाहिए–

जो उपज्या सो बिनसिहै, ताथैं दुःख करि मरै बलाइ।

यहाँ झूठी माया जोड़ने से क्या लाभ–

काहे कूँ माया दुख करि जोरी।
हाथ चूंन गज पाँच पिछवरी।।

इसलिए संचय उतना ही कीजिए, जितना आवश्यक हो–

साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम्ब समाय।
मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाय।।

और फिर ऐसा धन संचय कीजिए जो आगे भी काम आए–

कबीर सो धन संचिये, जो आगे कूँ होइ।
सीस चढ़ाए पोटली, लै जात न देखा कोइ।।

सम्पत्ति देखकर हर्षित न हों, विपत्ति देखकर घबड़ाएँ नहीं। सम्पत्ति और विपत्ति तो उसी परमात्मा की दी हुई हैं–

संपति देखि न हरषिये, विपति देखि न रोइ।
ज्यूँ सम्पति त्यूँ विपति है, करता करे सु होइ।।

सत्य से बड़ा कोई तप नहीं है, झूठ से बड़ा कोई पाप नहीं है। जिसका हृदय सच्चा है, परमात्मा वहीं निवास करता है–

1. साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदय साँच है, ताके हिरदय आप।।

2. साईं सेंती साँच चलि, औरां सूँ सुध भाइ।

हमेशा मधुर वाणी का प्रयोग करें–

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोइ।
अपना तन सीतल करै, औरन कौं सुख होइ।।

अपने पड़ोसी से रूठने से तिल–तिल सुख की हानि होती है–

पाड़ोसी सू रुसणां, तिल–तिल सुख की हानि।

कबीर प्रेम मार्ग के पथिक हैं। उनका प्रेम ब्रह्म के प्रति तो है ही, मानव मात्र के प्रति भी है। पंडित बनने के लिए पुस्तकीय ज्ञान की नहीं, अपितु मानवीय प्रेम की जरूरत होती है–

पोथी पढ़ि–पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होइ।।

प्रेम के इस मार्ग पर चलना इतना आसान नहीं है। इसमें सीस उतारकर हाथ में रखना होता है, अर्थात् अपने पृथक् अहं को भगवान को समर्पित करना पड़ता है–

कबीर यहु घर प्रेम का खाला का घर नाहिं।

सीस उतारे हाथि करि, सो पैसै घर माँहिं।।

ऐसा प्रेम अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है। यह न तो किसी खेत में उत्पन्न होता है और न बाजार में ही बिकता है। यह तो अमूल्य और दुष्प्राप्य है। राजा–प्रजा जिस किसी को इसकी चाह हो वह अपना सिर देकर अर्थात् अपना अहं समर्पित करके इसे ले जाय–

प्रेम न खेती नीपजै, प्रेम न हाट बिकाय।
राजा परजा जिस रुचै, सिर दे सो ले जाइ।।

कबीर को अपनी नहीं, बल्कि संसार की चिन्ता है। वे अज्ञान की निशा में सोये प्राणियों को जगाना चाहते हैं, पर लोग हैं कि जागना नहीं चाहते। कबीर को दुःख यही है कि इनका उद्धार कैसे होगा–

सुखिया सब संसार है, खाए अरु सोवे।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रोवे।।

मानव मात्र की मुक्ति के आकांक्षी तथा पर–दुःख–कातर कबीर का काव्य सदा हमारे लिए प्रासंगिक रहेगा।

5

कूट काव्य की परम्परा और सूर का कूट काव्य

कवि शब्दशिल्पी होता है। उसे अधिकार है शब्दों के साथ क्रीड़ा करने का। वह प्रत्येक शब्द को अपना मनोवांछित कार्य करने का आदेश दे सकता है। साधारण पाठक इन शब्दों का अर्थ आसानी से नहीं लगा पाते तथा वे इस विषय में जिज्ञासु ही बने रहते हैं। यह स्थिति केवल साधारण पाठकों की ही नहीं होती, विद्वज्जन भी कभी–कभी इसके शिकार हो जाते हैं। महाभारत लिखते समय स्वयं गणेश जी की भी यही स्थिति हो गई थी। व्यास जी ने अपने कूटवाचकों द्वारा उन्हें विभ्रम में डाल दिया था। इस प्रकार की रचनाएँ जो सरलता से भावगम्य नहीं होतीं तथा जिनका अर्थ शब्दों की भूलभुलैया में छिपा रहता है–कूट कहलाती हैं।

'कूट' शब्द की व्युत्पत्ति 'कूट्' धातु में 'अच्' या 'घञ्' प्रत्यय लगाने से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ है – कूटना या कूटा जाना। सामान्य व्यवहार में यह शब्द अनेक अर्थों का वाचक है। अमरकोश में इसके नौ अर्थों का उल्लेख है–

मायानिश्चल यंत्रेषु कैतवानृतराशिषु।
अयोधने शैलश्रृंगे सीरांगे कूटमस्त्रियाम्।।

अर्थात् माया, निश्चल, यंत्र, कैतव, अनृत, राशि, अयोधन, शैल–श्रृंग और सीरांग। इसके अतिरिक्त तुच्छ, हीन, द्वेष, गुप्तशस्त्र, व्यंग्यवाक्य, गूढ़प्रश्न, प्रहेलिका, गूढ़ोक्ति, वाचककूट, वाक्कूट, वाणीकूट, कुतूहल, वैनोदिक, वक्रोति, परोक्षकृता, आध्यात्मिकी, ब्रह्मोद्य, ग्रंथग्रंथि, संधाभाषा तथा उलटवाँसी आदि अर्थों में भी यह शब्द प्रयुक्त होता है। हिन्दी साहित्य में 'कूट' के लिए 'दृष्टकूट' या 'दृष्टिकूट' शब्द का प्रयोग होता है। लेकिन यह प्रयोग कब से शुरू हुआ, अभी तक अज्ञात है। विद्वानों का विचार है कि सूरदास की रचनाओं को ही पहले–पहल दृष्टिकूट की संज्ञा दी गयी। लेकिन कूटकाव्य वस्तुतः सूर की ही देन है, ऐसा मानना नितान्त भ्रामक है। कूटकाव्य का प्रयोग अतीतकाल से ही होता चला आ रहा है। इतना अवश्य है कि 'दृष्टिकूट' शब्द का प्रयोग अधिकांशतः सूर की रचनाओं के साथ ही होता है। इस शब्द के दोनों रूप चलते हैं–'दृष्टकूट' तथा 'दृष्टिकूट'। वास्तव में

यह दो शब्दों का योग है–दृष्ट और कूट। 'दृष्ट' का अर्थ है–देखा हुआ, जाना हुआ, ज्ञात, प्रकट तथा लौकिक। 'कूट' का अर्थ है–पहाड़ की चोटी, छल, मिथ्या, गूढ़ तथा भेद। इस प्रकार 'दृष्टकूट' का शाब्दिक अर्थ हुआ–'देखा हुआ पहाड़' अथवा 'ज्ञात धोखा'। 'दृष्टि' का सम्बन्ध देखने की वृत्ति या शक्ति से है। अतः 'दृष्टिकूट' का अर्थ हुआ दृष्टि को छलने वाला अथवा दृष्टि के सामने कूटवत् (पहाड़ की तरह) हो जाना। भावार्थ की दृष्टि से 'दृष्टकूट' की अपेक्षा 'दृष्टिकूट' शब्द ज्यादा समीचीन है। हिन्दी साहित्य में इसका यही प्रयोग सार्थक भी है।

कूट काव्य की परम्परा

दृष्टिकूट का सीधा सम्बन्ध मानव के मानसिक विकास की स्थिति से है। हम समझते हैं दृष्टिकूट का अभ्युदय उसी समय हो गया होगा जब मनुष्य मानसिक विकास की अवस्था में पहुँचा होगा। इसका आदिम स्वरूप शायद मनोविनोद, ज्ञान–परीक्षा अथवा प्रहेलिका के रूप में रहा हो। साहित्य के रूप में इसका सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में मिलता है। इसमें अनेक ऐसे मंत्र हैं जो गूढ़ार्थ अथवा प्रहेलिका के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। यथा–

द्वादश प्रधयश्चक्रमेतं त्रीणि नभ्यानिक उतच्चिकेत।
तस्मिंत्साकं त्रिशता शंकवोऽर्पिताः षष्टिर्न चला चलासः।।

अर्थात् बारह प्रधियों और तीन नाभियों वाले उस एक चक्र को कौन जानता है, जिसमें तीन सौ साठ शंकु भी लगे हैं। यहाँ 'चक्र' का अभीष्टार्थ 'वर्ष, 'तीन नाभियों' का 'तीन ऋतुएं' तथा शंकु' का 'दिन' है।

इसी प्रकार–

एकपाद् भूयो द्विपक्षे विचक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे सम्पश्यन् पंक्तीरूपतिष्ठमानः।।

अर्थात् एकपाद होते हुए भी वह द्विपाद से तीव्रगामी है। द्विपाद होते हुए त्रिपाद से तीव्रगामी है। द्विपाद की पुकार पर चतुष्पाद आता है। यहाँ 'एकपाद' का अभीष्टार्थ 'मेष अथवा सूर्य', त्रिपाद का लकड़ी को धारण करने वाला 'वृद्ध पुरुष' तथा 'चतुष्पाद' का 'कुत्ता' है।

अलंकारों द्वारा भी गूढ़ार्थ की व्यंजना मिलती है–

चत्वारि श्रृंगास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोखीति महादेवो मर्त्यां आविवेश।।

अर्थात् एक वृषभ है जिसके चार सींग, तीन पैर, दो सिर तथा सात हाथ हैं। यह तीन तरफ से बँधा हुआ गरज रहा है। यह महान देवता मर्त्यों में प्रविष्ट हो गया है। इसमें 'वृषभ' 'सूर्य', 'चारसींग' उसकी 'चार दिशाएँ, 'तीन पैर' 'तीनों वेद', 'दो सिर' 'दिन तथा रात्रि' तथा 'सात हाथ' 'सात किरणें' हैं। वृषभ रूपी सूर्य का 'तीन तरफ से बँधा होना' 'पृथ्वी, अंतरिक्ष और पाताल' का प्रतीक है।

ऋग्वेद के एक मंत्र में संसार की रूपरेखा में भी कूट का प्रयोग हुआ है–

अबुध्ने राजा वरुणोवनस्योर्ध्वस्त्यंददते पूतदक्षः।
नीचीनाः स्थरूपरिबुध्नऽएषामस्त्रेऽअंतर्निहिताः केतवः स्युः।।

अर्थात् वरुण लोक में एक ऐसा वृक्ष है जिसकी किरणों की जड़ें ऊपर हैं तथा जो ऊपर से नीचे फैली हुई हैं। यहाँ 'वृक्ष' 'संसार' तथा 'किरणें' 'ब्रह्म की ज्योति' की प्रतीक हैं।

अथर्ववेद में भी यत्र–तत्र कूट मंत्र प्रयुक्त हुए हैं। कुंतापसूक्त तथा कवष–ऐलूष सूक्त में एक मंत्र इसी प्रकार का है–

अर्वाग् विलश्चमस ऊर्ध्व बुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी संविदाना इति।।

अर्थात् एक चम्मच है जिसका मुख नीचे की ओर तथा तल ऊपर की ओर है। इसके किनारे पर सप्तर्षि और वाग्देवता हैं। यहाँ 'चम्मच' का अभिप्रेत अर्थ 'सिर' है। सिर के विभिन्न भागों में पाँच प्राणवायु हैं जो स्फूर्तिकारी हैं। उसी के सन्निकट इन्द्रियाँ हैं जिनमें ज्ञान की वाणी भी है।

वैदिक साहित्य की भाँति उपनिषदों में भी कूट–पद रचना मिलती है। मुण्डकोपनिषद् में एक मंत्र है–

द्वा सुपर्णा सयुजा सखायः समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नत्रान्योऽभिचाककशीति।।

जिसका अर्थ है– दो पक्षी जो सयुजा, सखाया एक ही वृक्ष पर बैठे हैं उनमें से एक स्वादिष्ट पिप्पल का भक्षण करता है और दूसरा कुछ न

भक्षण कर प्रकाशमान रहता है। वस्तुतः यहाँ 'दो पक्षी' का अभीष्टार्थ है – 'जीव और ईश्वर'। दोनों सयुजा (नियम्य–नियामक भाव से सहयोगी), सखाया (चैतन्य रूप होने से तुल्य स्वभाव) भाव से एक ही वृक्ष पर बैठे हैं। यहाँ 'वृक्ष' का अभीष्टार्थ 'देह' अथवा संसार' है। इनमें से एक अर्थात् जीव कर्मफल भोगता है, दूसरा ईश्वर कर्मफल न भोगता हुआ प्रकाशमान रहता है।

इसी संसार रूपी वृक्ष का वर्णन कठोपनिषद् में भी मिलता है–

ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्रवत्थः सनानतः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।।

ईषोपनिषद् में भी एक कूट मंत्र है, जिसका अर्थ है – सांसारिक भोगों में रत व्यक्ति का आध्यात्मिक ज्ञान छिपा रहता है, वह तभी प्रकाशित होता है जब इन भोगों का त्याग कर दिया जाय–

हिरण्ययेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नयावृणु सत्यधर्मा हि दृष्टये।।

इसका शाब्दिक अर्थ है – सत्य का मुख सोने के पात्र से ढँका हुआ है। हे पूषा! तुम उसे अनावृत कर दो, जिससे तुम्हें सत्य के दर्शन हो सकें।

वस्तुतः वैदिक और औपनिषदिक साहित्य में कूटों का जो रूप मिलता है वह एकदेशीय है। उसकी परिधि सीमित है। वह ब्रह्म, जीव और जगत तक ही सिमट कर रह गया है।

कूटों का वास्तविक विकास हमें महाभारत में मिलता है। इसमें अनेक स्थलों पर कूट श्लोकों का प्रयोग है। महाभारत के इन कूट श्लोकों को 'ग्रंथग्रन्थि' कहा जाता है। इनकी रचना के विषय में एक कथा प्रचलित है–'कहा जाता है कि जब व्यास जी के मन में महाभारत लिखने का विचार उत्पन्न हुआ तो उनके सामने लिपिक (राइटर) की समस्या आयी। वे ब्रह्मा जी के पास गये। ब्रह्मा जी ने उन्हें सलाह दी कि आप गणेश जी के पास जायँ, उनसे अच्छा लेखक इस ब्रह्माण्ड में और कोई नहीं है। ब्रह्मा जी की सलाह मानकर व्यास जी गणेश जी के पास आए और उनसे महाभारत के प्रणयन में सहयोग देने की प्रार्थना की। गणेश जी ने उनका लिपिक बनना स्वीकार तो कर लिया लेकिन उनके सामने एक शर्त रख दी कि मेरी लेखनी कहीं रुकने न पाए। यदि लेखनी रुक गई तो मैं यह कार्य छोड़

दूँगा। महर्षि व्यास यह सुनकर कुछ चिन्तित हुए। फिर शीघ्र ही कुछ सोचकर उन्होंने यह शर्त स्वीकार कर ली। लेकिन साथ ही अपनी भी एक छोटी सी शर्त रख दी कि बिना श्लोक का अर्थ समझे उसे आप नहीं लिखेंगे। गणेश जी ने उनकी यह शर्त मान ली। महाभारत का प्रणयन आरम्भ हुआ। व्यास जी बोलते जाते थे और गणेश जी लिखते जाते थे। उनके लेखन का क्रम इतना तेज था कि व्यास जी को कुछ सोचने का मौका ही नहीं मिल पाता था। ऐसे अवसरों पर उन्होंने कूट रचना का सहारा लिया। जब कभी उन्हें कुछ सोचने की आवश्यकता अनुभव होती तब वे एक कूट की रचना कर देते जिसका अर्थ समझने के लिए गणेश जी को कुछ क्षण के लिए अपनी लेखनी बंद कर देनी पड़ती। इस बीच व्यास जी कथा की अगली कड़ी के बारे में सोच लेते।' महाभारत में इस प्रकार के लगभग एक हजार आठ सौ कूट श्लोक मिलते हैं। सौति का कथन है कि व्यास जी ने इन श्लोकों की रचना कौतूहल और अपनी बुद्धि तथा प्रतिभा का दर्शन कराने के लिए की थी–

'ग्रंथग्रंथि तदा चक्रे मुनिर्गूढं कुतूहलात्।
यस्मिन् प्रतिज्ञया प्राह मुनिर्द्वैपायनिस्त्वमद्।।

यहाँ एक दो उदाहरण दे देना अप्रासंगिक न होगा। अज्ञातवास प्रकरण में वृहन्नला वेशधारी अर्जुन को देखकर भीष्म ने द्रोणाचार्य से पूछा कि रथ में कौन आ रहा है? इसके उत्तर में द्रोणाचार्य कहते हैं–

नदीज लंकेशवनारिकेतो नगाह्वयं नाम नगारिसूनुः।
एषोऽगना वेषधरः किरीटिः जित्वा वयं नेष्यति चाद्य गावः।।

अर्थात् हे नदीज–नदी से जन्म है जिनका अर्थात् गंगा पुत्र भीष्म। लंकेशवनारिकेतो–लंकेश अर्थात् रावण, लंकेशवन अर्थात् अशोकवाटिका, लंकेशवनारि अर्थात् अशोकवाटिका के शत्रु (अशोक वाटिका को उजाड़ने वाले) हनुमान, केतो अर्थात् जिसकी ध्वजा में हैं। नगाह्वयं नाम–हस्ति या अर्जुन के पेड़ से सम्बन्धित। नगारिसूनुः–नग (पहाड़) का शत्रु इन्द्र और इन्द्र का पुत्र अर्थात् अर्जुन। एषोऽड़गना वेषधरः–यह स्त्री वेशधारी। किरीटिः–अर्जुन। जित्वा गावः–हमको जीतकर गायों को ले जाएगा।

अर्थात् 'हे भीष्म ! यह कपिध्वज, अर्जुन वृक्ष अथवा हस्तिनापुर से सम्बन्धित इन्द्रपुत्र, नारिवेश धारी अर्जुन है जो हमको जीतकर गायों को ले जाएगा।"

इसी प्रकार कर्ण पर्व में भी एक कूट मिलता है जिसमें 'गो' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ है–

गोकर्णः सुमुखो कृतेन इषुणा गोपुत्र सम्प्रेषिता,
गो शब्दात्मज भूषणं सुविहितं सुव्यक्त गोषुप्रभम्।
द्रष्ट्वा गो गतकं जहार मुकटं गोशब्द गोपूरिवै,
गो कर्णासन मर्दयञ्च न यथा वा प्राप्य मृत्योर्वशम्।।

यहाँ गोकर्ण–चक्षुश्रवा–सर्प। गोपुत्र–सूर्यपुत्र–कर्ण। गोशब्दात्मज–इन्द्र। गोषुप्रभम्–अति तेजस्वी। गोगतर्क–लगाम तक झुका हुआ। गोशब्द–सूर्य। गोशरि–किरणें। अर्थात् "कर्ण द्वारा छोड़े गये कर्मरूपी बाण ने लगाम तक झुके हुए (अर्जुन के) सूर्य किरणों सदृश देदीप्यमान मुकुट को काट दिया, किन्तु उसकी मृत्यु इस सर्पयुक्त बाण से न हुई और वह बच गया।"

महाभारत की ही तरह श्रीमद्भागवत् में भी कूटों की रचना मिलती है। इसमें भिन्न–भिन्न प्रकार के कूट श्लोक दिखलाई पड़ते हैं। मुण्डकोपनिषद् के 'द्वा सुपर्णा' वाले कूट की छाया भागवत के निम्न श्लोकों में देखी जा सकती है–

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्।।
आत्मानमन्यं च स वेद विद्वानपिप्पलादो न तु पिप्पलादः।
योऽविद्यया युक् स तु नित्य बद्धो विद्यामयो यः स तु नित्यमुक्तः।।

भागवत 11, 11, 6–7

इसी प्रकार एक अन्य स्थान पर संसार रूपी वृक्ष का वर्णन है–

एकायनोऽसौ द्विफलास्त्रिमूलश्चतूरसः पञ्चविधिः षडात्मा।
सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादि वृक्षः।।

अर्थात्–संसार रूपी एक वृक्ष है जिसका एक आश्रय है (प्रकृति), दो फूल हैं (सुख और दुःख), तीन जड़ हैं' (सत्, रज, तम), चार रस (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष), जो पांच प्रकार के हैं (श्रोत, त्वचा, नेत्र, रसना, और नासिका), छह स्वभाव हैं (उत्पत्ति, स्थिति, उन्नति, बदलना, धारना और नष्ट होना), सात त्वचा हैं (सप्त धातुएँ–-रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र), आठ शाखाएँ हैं (पंच महाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार), नौ खोडर हैं (एक

मुख, दो नासिका छिद्र, दो नेत्र, दो कान, पायु और मूत्रेन्द्रिय), दस पत्ते हैं (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, भाग, कर्म, कमल, देवदत्त और धनंजय) तथा इस वृक्ष पर दो पक्षी हैं (जीव और ईश्वर)।

कूट काव्यों का स्वरूप केवल धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रहा। लौकिक साहित्य में भी इसकी सुदीर्घ परम्परा मिलती है। माघ, श्रीहर्ष तथा कालिदास ने भी अपनी संस्कृत रचनाओं में कूटों का प्रयोग किया। कालिदास ने तो अपने विश्वविख्यात नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का आरम्भ ही कूट से किया है–

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या, वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री।
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्यविश्रवम।
यामाहुः सर्वबीज प्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः।
प्रत्यक्षाभिः प्रयन्नस्तुनुसिखतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः।।

अर्थात् जो ब्रह्म की आदि सृष्टि है (जल), जो विधिपूर्वक हवन की हुई वस्तु को ग्रहण करता है (अग्नि), जो हवि को हवन करने वाला होत्री है (यजमान), जो ज्योति दो कालों को विभक्त करती है (सूर्य और चन्द्र), जिसका विषय श्रुति तथा विश्व में व्यापक है (आकाश), जिसको सब बीजों की प्रकृति माना गया है (पृथ्वी) और जिसके द्वारा प्राणी प्राणवान है (वायु), ऐसी प्रत्यक्ष (जल, अग्नि, यजमान, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु) अष्टमूर्तियों द्वारा ईश्वर तुम्हारी रक्षा करें।

कूटकाव्यों की यह परम्परा प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य में भी मिलती है, लेकिन विच्छिन्न रूप में। देश की राजनैतिक स्थिति ही इस काल में ऐसी रही जिससे इस परम्परा का विकास बहुत कम हुआ। इस काल में कवियों का ध्यान कूट रचना करने के स्थान पर देश पर पड़ी हुई विपत्ति की गुत्थी को सुलझाने में अधिक लगा। संभव है लोक साहित्य में कूट काव्यों का प्रणयन होता रहा हो पर इसका कोई प्रमाण हमें नहीं मिलता। कूटकाव्यों की यही परम्परा विकसित होती हुई हिन्दी साहित्य में आयी है।

हिन्दी साहित्य में विद्यापति पहले कवि हैं जिन्होंने कूट पदों की रचना की है। यद्यपि इनसे पूर्व गोरखनाथ आदि की रचनाओं में भी कूट मिलते हैं लेकिन वे कूट न होकर उलटवाँसी हैं जो कूट का एक भिन्न रूप है। कबीर ने अपनी रचनाओं में इसी उलटवाँसी शैली का ही प्रयोग किया

है। हाँ! चन्दबरदाई रचित 'पृथ्वीराज रासो' में कुछ कूट अवश्य मिलते हैं जिनका स्पष्ट प्रभाव विद्यापति और सूर पर देखा जा सकता है। यथा–

कुंजर उप्पर सिंघ, सिंघ उप्पर दोय पब्बय।
पब्बय उप्पर भ्रंग, भ्रंग उप्पर ससि सुब्भय।।
ससि उप्पर इक कीर, कीर उप्पर म्रग दिट्‌ठौ।
म्रग उप्पर कोदंड संध, कंद्रप्प बयट्‌ठौ।।
अहि मयूर महि उप्परइ, हीर सरस हेमन जर्‌यौ।
सुर–भुवन छाँड़ि कवि चंद कहि, तिहि धोखै राजन पर्‌यौ।।

एक और भी–

तजि भूषन बरबाल, एक आचिज्ज अपन्नौ।
लता हेम पर चंद, उभै खंजन दिग चिन्नौ।।
श्रीफल उरज बिसाल, बाउ पर भुंग सुपत्ती।
सुकि सुत रंग अरन्नि, करी भग्गाबल बत्ती।।
सोमंत उरगपति मुअसरन, हंस मुत्ति चरवर करी।
सुध काज चढ़ै पप्पील सुत, काम पत्तिनी दुख डरी।।

विद्यापति के कूट पदों में अलंकारों का प्रयोग अधिक है। इन्होंने अपनी कूट पद–रचना में रूपकातिशयोक्ति, यमक, अतिशयोक्ति, विरोधाभास तथा संदेह आदि अलंकारों का अधिक आश्रय लिया है। कुछ उदाहरण देखें–

रूपकातिशयोक्ति

सजनी अपरूप पेखल रामा।
कनकलता अवलम्बन ऊअल हरिनहीन हिम धामा।।

x x x

पएसि पयान आग सत जागइ सोइ पावइ बहुभागी।
विद्यापति कह गोकुल नाइक गोपी जन अनुरागी।।

यमक

माधव कि कहब सुन्दरि रूपे।

x x x

सारंग नयन बयन पुनि सारंग, सारंग तसु समधाने।
सारंग उपर उगल दस सारंग, केलि करथि मधुपाने।।

एक से अधिक अलंकार–

जुगल सैल सम हिमवर पेखल एक कमल दुइ जोति रे।
फुलति मधुर फुल सेंदुर लोटायल पाँति बइसलि गजमोति रे।।

x x x

तथहु मनोहर बाजन बाजए जनि जागे, मनसिज भूप रे।।

सौन्दर्य वर्णन के अतिरिक्त विद्यापति ने विदग्ध विलास में भी कूट शैली का प्रयोग किया है–

सखि हे कि कहब किछु नहिं फूर।
x x x
प्रनय–पयोधि–जले तन झाँपल, ई नहिं जुग अवसान।
के विपरीत कथा पतिआयल, कवि विद्यापति भान।।

विद्यापति के बाद कबीर आदि सन्तों ने उलटवाँसी साहित्य लिखा। कबीर की उलटवाँसियाँ तो बेजोड़ हैं। इनमें सिद्धान्तों की व्यंजना प्रमुख तथा काव्य तत्व गौण है। एक उदाहरण देखें–

उनइ बदरिया परियो संझा, अगुआ भूले बनखग झंझा।
पिय अंते धन अंते रहई, चौपरि कामरि माथे गहई।
फुलवा भार न सहि सकै, कहै सखिन सौं रोय।
ज्यौं ज्यौं भीजे कामरी, त्यौं त्यौं हलकी होय।।

इसका अभीष्ट अर्थ है–'जीवात्मा, प्रियतम परमात्मा से मिलने के लिए अग्रसर होती है। यद्यपि गुरु पथ–प्रदर्शक है, पर अज्ञान के कारण वह पथभ्रष्ट हो जाती है। सांसारिकता उसके पथ की बाधाएँ हैं। कामरी सांसारिक कर्म हैं। आत्मा ज्यों–ज्यों परमात्मा के प्रेम से भीजती है त्यों–त्यों कर्मफलों का प्रभाव कम होता जाता है।'

कुछ विद्वानों ने उलटवाँसी की गणना कूट–काव्य के अन्तर्गत नहीं की है। उनका कहना है कि उलटवाँसियों के पीछे कोई साहित्यशास्त्रीय आधार नहीं होता, इनमें लोक समाज से बिल्कुल विपरीत बात कही जाती

है, जबकि दृष्टिकूट के पीछे साहित्य अथवा कथा का आधार रहता है।

विद्यापति के बाद सफल कूटकाव्यकारों में सूरदास का स्थान आता है। वास्तव में सूर काव्य में आकर ही यह परम्परा अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचती है। सूरदास के बाद से ही इस परम्परा का अवसान होने लगता है। उनके समसामयिक अष्टछाप के किसी भी कवि ने कूट पदों की रचना नहीं की। हिन्दी साहित्य का शृंगार काल भी लगभग इस परम्परा से अछूता ही रहा। उन्नीसवीं शताब्दी में आकर सांगा तथा नवनीत आदि एक दो कवियों ने इस परम्परा के अनुसरण की चेष्टा की, पर उन्हें सफलता न मिल सकी। तब से लेकर आज तक इसका भविष्य अन्धकारमय ही है।

सूर का कूट काव्य

कूट पद रचना की दृष्टि से महाकवि सूरदास का हिन्दी साहित्य में मूर्धन्य स्थान है। उनकी तीनों रचनाओं–सूरसागर, सारावली तथा साहित्य लहरी में कूट पद मिलते हैं। सूरसागर में लगभग 150 तथा सारावली में लगभग 30 कूट पद हैं। साहित्य लहरी तो संपूर्ण कूटकाव्य रचना है। अब प्रश्न उठता है कि सूर ने इतने परिमाण में कूटपदों की रचना क्यों की? इसके कई कारण हैं। पहला तो यह कि इन्हें यह परम्परा विरासत में मिली थी। कोई भी सफल रचनाकार अपनी पूर्व काव्य–परम्पराओं को त्यागना नहीं चाहता। परम्पराओं के ग्रहण से ही काव्य की महत्ता बढ़ती है। महाकवि सूर पर इसका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। उनके कितने ऐसे पद हैं जो चन्दबरदायी तथा विद्यापति के अनुकरण मालूम पड़ते हैं। कूट पदों की रचना का दूसरा प्रमुख कारण रहा है – इसके मूल में स्थित चमत्कारिक भावना। चमत्कार ही कूट पदों की आत्मा है। कवि जिन पदों में ग्रन्थियों को डालकर दुर्बोध बना देता है, पाठक उन्हें परिश्रम द्वारा सुलझाकर एक विशेष प्रकार की आनन्दानुभूति प्राप्त करता है। मध्यकाल में यह प्रवृत्ति हमें विशेष रूप से दिखाई देती है। इसके साथ ही शृंगारिक मानसिकता का इस काल में प्राधान्य रहा। सूर को इस शृंगारिक मानसिकता की अभिव्यक्ति के लिए भी कूट पदों का सहारा लेना पड़ा। उनकी रचनाओं में जहाँ कहीं भी शृंगार अपने नग्न रूप में आना चाहा है, तुरन्त वहाँ उन्होंने इसकी अभिव्यक्ति के लिए कूटों का सहारा ले लिया है। सूर ने पांडित्य प्रदर्शन के लिए कूटकाव्य नहीं लिखे। सौन्दर्यानुभूति एवं कल्पना–शक्ति का समुचित उपयोग इनकी कूट–रचना का प्रमुख कारण रहा है।

सूर के कूट पदों का दायरा असीम है। उसकी अभिव्यक्ति जीवन के विस्तृत फलक पर हुई है। बाल तथा यौवन लीलाओं एवं संयोग–वियोग के अनेक प्रसंगों में सूर ने कूट–पदों का प्रयोग किया है। उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

बाल लीला–

देखौ माई, दधिसुत मैं दधि जात।
एक अचम्भौ देखि सखी री, रिपु मैं रिपु जु समात।।
दधि पर कीर, कीर पर पंकज, पंकज के द्वै पात।
यह सोभा देखत पसुपालक, फूले अंग न समात।।
बारम्बार बिलोकि सोचि चित, नन्दमहर मुसुक्यात।
यहै ध्यान मन आनि स्याम कौ, सूरदास बलि जात।।

यौवन लीला–

आजु तन राधा सज्यौ सिंगार।
नीरज–सुत–सुत–वाहन कौ भख, स्याम अरुन रँग कौन विचार।।
मुद्रापति–अँचवन–तनया सुत, ताके उरहिं बनावहिं हार।
गिरि–सुत तिन पति बिबस करन कौं, अच्छत लै पूजत रिपु–मार।।
पंथ–पिता–आसन–सुत सोभित, स्याम घटा बन–पंक्ति अपार।
सूरदास–प्रभु अंस–सुता–तट, क्रीड़त राधा नंद कुमार।।

संयोग–

आजु बन राजत जुगल किसोर।
दसन–बसन खंडित मुख मंडित, गंड तिलक कछु थोर।।
डगमगात पग धरत सिथिल गति, उठे काम–रस भोर।
रति–पति सारँग अरुन महाछवि, उमँगि पलक लगे भोर।।
स्रुति अवतंस विराजत हरि–सुत, सिद्धि दरस सुत ओर।
सूरदास प्रभु रस–बस कीन्ही, परो महा रन जोर।।

वियोग–

कहत कत परदेसी की बात।
मंदिर–अरध अवधि बदि हमसौं, हरि–अहार चलि जात।।
ससि–रिपु बरष, सूर–रिपु जुगबर, हर–रिपु कीन्हों घात।
मघ पंचक लै गयौ साँवरौ, तातैं अति अकुलात।।

नखत–वेद–ग्रह–जोरि–अरध–करि, सोइ बनत अब खात।
सूरदास बस भई बिरह के, कर मीजैं पछितात।।

इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक तथा काव्य शास्त्रीय विषयों पर भी सूर ने कूट पद लिखे हैं। सूर कृत साहित्यलहरी पूर्णरूपेण एक काव्य शास्त्रीय रचना है जिसमें नायिकाभेद, अलंकार, संचारी, रस, भाव तथा शब्द शक्तियों का वर्णन कूट शैली में हुआ है।

सूर द्वारा रचित दृष्टिकूटों को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है–कथात्मक, आलंकारिक और ध्वनि परिवर्तक।

'कथात्मक दृष्टिकूट' वे हैं जिनमें किसी कथा का आधार रहता है। यह कथा दो प्रकार की है– पौराणिक तथा लौकिक। इस आधार पर दृष्टिकूट के दो वर्ग हो जाते हैं–'पौराणिक कथात्मक दृष्टिकूट' तथा 'लौकिक कथात्मक दृष्टिकूट'।

'पौराणिक कथात्मक दृष्टिकूट' वे हैं जिनमें पौराणिक कथाओं के पात्रों को लेकर उनका सम्बन्ध अन्य पौराणिक पात्रों से स्थापित कर अपनी मन चाही बात कही गई है। उदाहरण–

मारुत–सुत–पति–अरि–पुर–वासी, पितु–वाहन भोजन न सुहाई।
हरि–सुत–वाहन असन सनेही, मानहुँ अनल देह दौ लाई।
उदधि–सुता–पति ताकर वाहन ता वाहन कैसे समुझावै।
सूर स्याम मिलि धर्म–समन–रिपु ता अवतारहि सलिल बहावै।।

सूरदास ने अपने पौराणिक कथात्मक दृष्टिकूटों में श्रीमद्भागवत के पात्रों का अधिक उल्लेख किया है।

'लौकिक कथात्मक दृष्टिकूट' वे हैं जिनकी रचना प्रचलित लोककथाओं को आधार बनाकर की गई है। उदाहरण–

प्रीति करि काहू सुख न लह्यौ।
प्रीति पतंग करी दीपक सौं, आपै प्रान दह्यौ।।
अलि–सुत प्रीति करी जल–सुत सों, संपुट माँझ गह्यौ।
सारंग प्रीति करी जु नाद सौं, सनमुख बान सह्यौ।।

सूरदास ने इन दोनों प्रकार के कथात्मक दृष्टिकूटों की रचना की है जिससे उनके पौराणिक एवं लौकिक ज्ञान का सहज परिचय मिलता है।

आलंकारिक दृष्टिकूटों का सम्बन्ध अलंकार शास्त्र से है। इसमें कुछ ऐसे अलंकारों का वर्णन है जो अर्थगोपन का कार्य करते हैं। ये अलंकार शाब्दी और आर्थी दोनों हैं। इन्हें ही क्रमशः 'शाब्दी आलंकारिक दृष्टिकूट' तथा 'आर्थी आलंकारिक दृष्टिकूट' कहते हैं।

शाब्दी आलंकारिक दृष्टिकूटों में यमक, प्रहेलिका तथा बहिर्लापिका प्रमुख हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि वही यमक दृष्टिकूट की श्रेणी में आएगा जिसमें अर्थगोपन की क्षमता होगी तथा जिसका निर्माण सार्थक पदों द्वारा हुआ होगा। यथा–

सारंग, सारंगधरहिं मिलावहु।
सारंग विनय करत, सारंग सौ, सारंग दुख बिसरावहु।।

यहाँ 'सारंग' शब्द की आवृत्ति अनेक बार हुई है तथा प्रत्येक आवृत्ति अपने में अर्थगोपन की पूरी क्षमता रखती है।

बहिर्लापिका में मुख्य शब्द छिपा रहता है जो बलपूर्वक बाहर निकाला जाता है। यथा–

सुंदर स्याम सोभा देख।
वारि ससि के आदि कोटिन कोट लाजन लेख।।

यहाँ वारि=जल=कः का 'का' तथा ससि=मयंक का 'म' लेकर 'काम' शब्द निकाला गया है।

प्रहेलिका, पहेली होती है जिसका अर्थ लगाया जाता है। यथा–

देखि सखि, तीस भानु इक ठौर।
ता ऊपर चालीस विराजत, सुधि न रही कछु और।।
धर तैं गगन, गगन तैं धरती, ता बिच कियौ विस्तार।
गुन–निर्गुन सागर की सोभा, बिनु रवि भयौ भिनसार।।
कोटनि कीट तरंगनि उपजत, जोग जुगति चित लाउ।
सूरदास प्रभु अकथ कथा कौ, पंडित भेद बताउ।।

यहाँ सूरदास जी पंडितजनों से इस प्रहेलिका का भेद बताने को कहते हैं।

आर्थी आलंकारिक दृष्टिकूटों में रूपकातिशयोक्ति, सूक्ष्म और युक्ति प्रमुख हैं। रूपकातिशयोक्ति का प्रयोग सूर ने अपने दृष्टिकूटों में प्रचुरता से

किया है। यथा–

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीड़त, तापर सिंघ करत अनुराग।।
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग।।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक पिक मृगमद काग।
खंजन धनुष चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग।।
अंग–अंग प्रति और–और छवि, उपमा ताकौं करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियौ सुधारस, मानौ अधरनि के बड़ भाग।।

सूक्ष्म और युक्ति अलंकार वहाँ होता है जहाँ कोई गूढ़ रहस्य औरों की आँखों से छिपाया जाता है। जहाँ यह क्रिया एकपक्षीय होती है वहाँ युक्ति तथा जहाँ द्विपक्षीय होती है वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है। सूर ने इसका प्रयोग उन स्थलों पर किया है जहाँ गुरुजन के मध्य बैठे राधा कृष्ण परस्पर भावों का आदान–प्रदान करते हैं। यथा–

श्याम अचानक आय गये री।
मैं बैठी गुरुजन बिच सजनी, देखत ही मेरे नैन नये री।।
तब इक बुद्धि करी मैं ऐसी, बेंदी सौं कर परस कियौ री।
आपु हँसे उत पाग मसकि हरि, अंतरजामी जानि लियौ री।।
लै कर कमल अधर परसायौ, देखि हरषि उनि हृदै धर्‌यौ री।
चरन छुए, दोउ नैन लगाए, मैं अपने भुज अंक भर्‌यौ री।।

ध्वनि परिवर्तक दृष्टि कूटों का सम्बन्ध शब्द–वैचित्र्य की संयोजना करने के लिए कूट काव्यकार को अनेक साधनों का सहारा लेना पड़ता है। महाकवि सूर ने इस प्रकार की कूट रचना में जिन साधनों का सहारा लिया है, उनमें से प्रमुख ये हैं–

1. प्रतीकों का प्रयोग–

प्रतीक किसी भाव–विशेष के लिए अभिव्यक्ति के संकेत होते हैं। इनका प्रयोग प्रायः आध्यात्मिक और दार्शनिक विषयों की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता है। सूर ने भी अपने कूट पदों की रचना में इनका सहयोग लिया है । उदाहरण–

1. चकई री चलि चरन सरोवर जहाँ न रैन वियोग।
2. भृंगी री भजि चरन कमल पद जहँ नहिं निसि कौ त्रास।
3. सुवा चलि ता बन कौ रस पीजै।

यहाँ चकई, भृंगी तथा सुवा 'जीवात्मा' के प्रतीक रूप में आये हैं।

2. अनेकार्थी शब्दों का एक विशिष्ट अर्थ में प्रयोग–सूरदास जी ने अनेक अनेकार्थी शब्दों को एक विशिष्ट रूढ़ अर्थ में प्रयुक्त किया है। यथा–

देखौ माई दधिसुत मैं दधि जात।

यहाँ दधिसुत का अर्थ मोती, शंख इत्यादि न होकर 'चन्द्रमा' है।

3. एक ही शब्द की भिन्न–भिन्न अर्थों में आवृत्ति–

उदाहरण–

सारंग सारंगधरहिं मिलावहु।
सारंग विनय करति सारंग सौं सारंग दुख बिसरावहु।।
सारंग–समै दहत अति सारंग, सारंग तिनहिं दिखावहु।
सारंग–गति सारंगधर जे हैं सारंग जाइ मनावहु।।
सारंग–चरन सुभग कर–सारंग सारंग नाम बुलावहु।
सूरदास सारंग उपकारिनि सारंग मरत जियावहु।।

इस पद में 'सारंग' शब्द की आवृत्ति अनेक बार हुई है जिनके क्रमशः अर्थ हैं–सखी, कमल, आकाश, विष्णु, कामदेव, रात्रि, चन्द्रमा, प्रियतम, कृष्णसर्प, अनुराग, कमल, भ्रमर तथा हरिण।

4. शब्द–समूह की श्रृंखला से एक ही अर्थ का बोध–इसमें शब्दों के अर्थ उत्तरोत्तर जुड़ते जाते हैं और इस प्रकार एक नवीन अर्थ उत्पन्न करते हैं। अंत में एक ही अर्थ रह जाता है जो कवि का अभिप्रेत होता है। यथा–

भू–सुत–सत्रु–नाथ–हित–पितु–तिय–प्रिय हिय वचन डिढ़ायौ।

यहाँ भू–पृथ्वी, पृथ्वी का सुत केवाँच, केवाँच का शत्रु बन्दर अर्थात् हनुमान, हनुमान के नाथ राम, राम के हितू भरत, भरत के पिता दशरथ, दशरथ की तिय कैकेयी, और कैकेयी की प्रिय वस्तु 'कलह' अभीष्टार्थ है।

5. वर्णों के योग से शब्दों का निर्माण–सूर ने ऐसे वर्णों द्वारा भी कूट की रचना की है जिनके योग से एक नवीन शब्द की उत्पत्ति होती है।

यथा–

सूरज–सुत–माता सुबोध की आपुन आदि ढहावै।

यहाँ नवीन शब्द 'कुंजै' है जो इस प्रकार बनता है–सूरज–सुत=कर्ण, कर्ण की माता=कुंती। सुबोध=जैन। 'कुंती' तथा 'जैन' के आदि वर्णों को मिलाकर है–'कुंजै'।

6. वर्णों के लोप से नवीन अर्थ का बोध–कहीं–कहीं वर्णों के लोप के द्वारा सूर ने नवीन अर्थ का बोध कराया है। उदाहरण–

अंत तें कर हीन फरकत, फनिग बाईं ओर।

फनिग=भुजंग। इसके अंतिम वर्ण 'ग' का लोप होने से बन गया–'भुजं' या 'भुजा'।

यही अभीष्टार्थ है।

7. रूप साम्य या ध्वनि साम्य से अर्थ का बोध–

यथा–

मंदिर–अरध अवधि बदि हमसौं, हरि–अहार चलि जात।

यहाँ हरि–अहार का अर्थ है–मास, महीना। हरि=शेर, शेर का आहार=मांस। यहाँ 'मांस' तथा 'मास' में ध्वनि एवं रूप का साम्य है।

8. संख्यासूचक शब्दों से इष्टार्थ की अभिव्यक्ति–कभी–कभी संख्याओं के द्वारा भी इष्टार्थ की अभिव्यक्ति की जाती है। यथा–

नखत, वेद, ग्रह जोरि अरध करि सोइ बनत अब खात।

यहाँ अभीष्टार्थ 'विष' है जिसकी व्युत्पत्ति होती है–नखत, वेद, ग्रह जोरि अरध करि' से।

नक्षत्र=27, वेद=4, ग्रह=9, सबका योग=40, इसका आधा=20, बीस या 'विष'।

9. वर्णों की पुनरावृत्ति–कुछ वर्णों की पुनरावृत्ति से भी कभी–कभी अभीष्ट अर्थ वाले शब्द का निर्माण हो जाता है। उदाहरण–

मानिनि! अजहूँ छाँड़ो मान ।
तीन विवि दधि सुत उतारत, राम दल जुत सान ।।
तीन लल बल करै तो संग, कौन भल अलि जान ।
डेढ़ लल कल लेत नाहीं, प्रान प्रीतम प्रान ।।

यहाँ तीन विवि=छवि, तीन लल=छल तथा डेढ़ लल=तिल।

10. पर्यायवाची शब्दों से इष्टार्थ की अभिव्यक्ति–इसमें कहीं एक भाषा से दूसरी भाषा के पर्यायवाची ग्रहण किये जाते हैं तो कहीं एक ही भाषा के पर्यायवाची।

उदाहरण

निसा–अंत–पति–सुत–सुभाव सुन, आजु कहाँ ते आई।

यहाँ 'निसा–अंत–पति–सुत–सुभाव' का अभीष्टार्थ 'सखी' है, जो इस प्रकार निकलता है–निसा–अंत=दिन, दिन का पति=सूर्य, सूर्य का सुत=कर्ण, कर्ण का स्वभाव=दानी। फारसी में 'दानी' का पर्यायवाची 'सखी' है। एक उदाहरण और–

दधि–सुत–सुत–पतिनी न निकासत।

यहाँ 'दधि–सुत–सुत–पतिनी' का अभीष्टार्थ 'बात' है, जो इस प्रकार निकलता है–दधि=उदधि, उदधि–सुत=कमल, कमल का सुत=ब्रह्मा, ब्रह्मा की पत्नी=सरस्वती, सरस्वती का पर्याय 'वाणी' या 'बात'।

11. प्रहेलिका का प्रयोग–

कारन अंत अंत तें घट कर, आदि घटत पैं जोई।
मद्ध घटे पर नास कियौ है, नीतन तें मन भोई।।

अर्थात् नायिका अपने नेत्रों में वह वस्तु लगाये है जिसका अन्तिम वर्ण हटाने से 'काजू', आदि वर्ण हटाने से 'जल', तथा मध्यवर्ण हटाने से 'काल' शब्द बनता है। अभीष्ट शब्द है–'काजल'।

12. शब्दों का विलोम प्रयोग–

करि विपरीत भवन तें धारा।

यहाँ 'धारा' का अर्थ 'राधा' है।

इसके अतिरिक्त भी शब्द–संयोजना के अनेक सम्भावित साधनों का सूर ने सफलतापूर्वक उपयोग किया है।

सूर का कूटकाव्य मात्र चमत्कार–प्रदर्शन के लिए नहीं है, काव्य–कला की दृष्टि से भी इसका बड़ा महत्व है। अपनी सौन्दर्यानुभूति और कल्पनाशक्ति के द्वारा जो शृंगारिक चित्र सूर ने प्रस्तुत कर दिये हैं वे अन्यत्र मिलने दुर्लभ हैं। सम्भवतः इसीलिए उन्हें कूटकाव्य–रचना का बेताज बादशाह कहा जाता है।

सूर का अभिव्यक्ति–पक्ष भी अनुभूति पक्ष से कम महत्वपूर्ण नहीं है। उनके कूट–पदों की भाषा शैली में एक खास तरह का आकर्षण है। प्रचुर शब्द–सम्पदा तथा शब्दों का समुचित चयन उनके कूट पदों की भाषा की एक प्रमुख विशेषता है। उनके ये शब्द जीवन के विविध क्षेत्रों से लिये गये हैं। शब्द–संयोजना के साथ ही अलंकार–योजना भी उनकी भाषा की श्रीवृद्धि में सहायक सिद्ध हुई है। उन्होंने अपने कूट पदों में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों का जैसा सफल प्रयोग किया है वैसा अन्यत्र मिलना कठिन है। सफल अलंकार–योजना कवि के काव्य–कौशल का परिचायक है।

अतः हम कह सकते हैं कि भाव पक्ष और कला पक्ष दोनों दृष्टियों से सूर का कूट–काव्य अपने में महान है। अपनी इस विशेषता के कारण ही वे परवर्ती कूट कवियों को पीछे छोड़ देते हैं। उनके पहले और उनके बाद भी इतना सफल कूटकाव्यकार कोई दूसरा न हो सका।

6

भ्रमर गीत परम्परा और सूर का भ्रमर गीत

साहित्य में प्राचीन काल से ही 'भ्रमर' रस–लोलुप, प्रेम–प्रवंचक एवं चंचल रसिक व्यक्ति का प्रतीक रहा है। नित्य नयी कलियों का रसपान करने वाला भ्रमर जिस प्रकार एक कली से मन भर जाने पर उसे निष्ठुरतापूर्वक त्याग देता है, उसी प्रकार कामी पुरुष भी नारी के सरस तथा कोमल हृदय में पल्लवित प्रेम को त्याग कर अन्य कामिनियों के साथ रमण करने लगता है। उसे अपने इस कृत्य पर तनिक भी लज्जा नहीं आती। इस प्रकार वह अपनी निष्ठुर, प्रेम–प्रवंचक एवं लम्पट वृत्ति का परिचय देता है। उसकी यह वृत्ति बड़ी पुरानी है।

पुरुष–प्रणय की आकांक्षिणी नारी को अपना सर्वस्व गँवाकर भी प्रणय नहीं मिला। उसे अपनी सौतों के व्यंग्य–बाण भी झेलने पड़े ! उसकी यही विरह–कथा रूपी सरिता उपालम्भों के रूप में फूट कर बह चली। इस सरिता में युग–युग से प्यासे कवियों ने जी भर कर अवगाहन किया। इतना ही नहीं इसमें से 'भ्रमर गीत काव्य' रूपी अनमोल रत्न भी ढूँढ निकाले।

भारतीय साहित्य में इन रत्नों की परम्परा बड़ी प्राचीन है। विद्वानों ने कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में राजा दुष्यन्त की प्रथम रानी हंसपदिका द्वारा भ्रमर को सम्बोधित कर, शकुन्तला के प्रेम में डूबे हुए दुष्यन्त को दिए गए उपालम्भ को ही प्रथम भ्रमर गीत स्वीकार किया है–

अहिणवमहु लोलुवो तुमं
तह परिचुंबिअ खेअभंजरिं।
कमलवसइमेत्ताणिव्वुदो
महुअर! विम्हरिओ सिणं कहं?

(अंक–5)

पर यह भ्रमर गीत नहीं, बल्कि भ्रमर–विषयक उक्ति द्वारा उपालम्भ दिलाकर साहित्य में किया गया एक नयी रूढ़ि का बीजवपन था । यह परम्परा संस्कृत के विकटनितम्बा, गोवर्धनाचार्य आदि कुछ कवियों की रचनाओं तथा अपभ्रंश के दूहों से होती हुई हिन्दी साहित्य में पहुँची ।

भ्रमर गीत की जिस परम्परा का विकास महाकवि सूरदास तथा अन्य परवर्ती कवियों में मिलता है वह श्रीमद् भागवत की देन है। इसके दशमस्कन्ध के 46वें और 47वें अध्याय में यह प्रसंग आया है। वहाँ यह प्रसंग इस प्रकार है– 'उद्धव, कृष्ण का संदेश लेकर ब्रज पधारे। कृष्ण के ध्यान में लीन गोपियों ने उद्धव को सुनाकर कहना आरम्भ किया–उद्धव जी हम जानती हैं कि आप यदुनाथ जी के पार्षद हैं और उन्हीं का संदेश लेकर यहाँ पधारे हैं। उन्होंने अपने माता पिता को सुख देने के लिए ही आपको यहाँ भेजा है। इसके अतिरिक्त उनका यहाँ है ही कौन ? उन्होंने हम लोगों के साथ जो प्रेम किया वह तो स्वार्थवश ही किया। उनका प्रेम वैसा ही है, जैसा भौंरे का पुष्पों से होता है। स्त्री के हृदय में चाहे कितना भी अनुराग हो पर जार पुरूष अपना काम निकाल लेने के बाद पलटकर भी नहीं देखता।

ऐसा कहते हुए कृष्ण की सारी प्रेम–लीलाएँ उनकी आँखों में उतर आती हैं और वे फूट–फूट कर रोने लगती हैं। किसी गोपी को उस समय कृष्ण के मिलन की लीला का स्मरण होने लगा। उसी समय उसने देखा कि पास ही एक भ्रमर गुंजार कर रहा है। उसने ऐसा समझा, मानों मुझे रूठी हुई समझ कर श्रीकृष्ण ने मनाने के लिए दूत भेजा हो और वह गोपी भौंरे से इस प्रकार कहने लगी–

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशांङ्.घ्रिं सपत्न्याः
कुच विलुलितमाला कुंकुमश्मश्रुभिर्नः।
वहतु मधुपति स्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ।।

(श्रीमद्भागवत, अध्याय – 47, श्लोक – 12)

अर्थात् हे कपटी के सखा भ्रमर ! सपत्नी के कुचों से मसली हुई माला के कुंकुम में सनी हुई अपनी मूछों से हमारा स्पर्श न कर । तू स्वयं भी तो किसी कुसुम से प्रेम नहीं करता, यहाँ से वहाँ उड़ा करता है। जैसे मेरे स्वामी, वैसा ही तू । मधुपति श्रीकृष्ण मथुरा की मानिनी नायिकाओं को मनाया करें, उनका यह कुंकुम रूप कृपा–प्रसाद, जो यदुवंशियों की सभा में उपहास करने योग्य है, अपने ही पास रखें । उसे तेरे द्वारा यहाँ भेजने की क्या आवश्यकता है?'

यहीं से भ्रमर गीत की शुरुआत होती है। गोपियों की विरह – व्यथा को सुनकर उद्धव उन्हें निर्गुण योग का संदेश देते हैं, जिसे सुनकर गोपियों का विरह शान्त होता है तथा उन्हें शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है ।

भागवत का यह सारा प्रसंग वर्णनात्मक शैली में है । काव्य–कला की दृष्टि से हम उसे बहुत उच्चकोटि का नहीं मान सकते । पर यही कथा भ्रमर गीत काव्यों का आधार बनी। हिन्दी के कवियों को यह प्रसंग अत्यन्त प्रिय लगा और इसे लेकर उन्होंने अनेक काव्यों की रचना की ।

अतः हम कह सकते हैं कि इस विशाल वृक्ष का बीजारोपण भागवतकार द्वारा ही हुआ। इस प्रसंग का शरीर भागवतकार ने निर्मित किया और प्राण अन्य कवियों ने फूँके। भागवत में तो इसका वर्णन प्रसंगवश ही हुआ है, पर परवर्ती हिन्दी कवियों ने इसे अपने दृष्टिकोण से लेकर उसमें सौन्दर्य भरा, उसे आकर्षक तथा प्रभावशाली बनाया ।

श्रीमद्भागवत के बाद विद्यापति के कुछ पदों में इस परम्परा को देखा जा सकता है। सम्भवतः विद्यापति पहले कवि हैं जिन्होंने इस प्रसंग की अवतारणा हिन्दी साहित्य में की। उनके इन पदों में प्रणय–वंचिता गोपियाँ, उद्धव को सम्बोधित कर अपने रसलोलुप नायक श्रीकृष्ण को उपालम्भ देती हैं। चूँकि यह उपालम्भ उद्धव को सम्बोधित करके कहा गया है, न कि भ्रमर को, अतः इस आधार पर कुछ विद्वान् इसे भ्रमर गीत नही मानते ।

हिन्दी साहित्य में शुद्ध भ्रमर गीत की रचना का श्रेय महाकवि सूरदास को है। सूर के बाद अष्टछाप के अन्य कवियों में परमानन्द दास ने भ्रमर गीत प्रसंग पर कुछ फुटकर पदों की रचना की है। इनकी गोपियों की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी है। वे अत्यन्त भोली हैं तथा कृष्ण के प्रेम में आकण्ठ डूबी हुई हैं।

परमानन्द के बाद नन्ददास का नाम इस परम्परा में आता है। इनका "भँवर गीत" सूरदास के बाद महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। लेकिन दृष्टिकोण एक होते हुए भी यह सूर के भ्रमर गीत से कई बातों में भिन्न है। सूर का भ्रमर गीत जहाँ हृदयगत सौन्दर्य की भावनाओं से ओत–प्रोत है वहीं नन्ददास का बुद्धि के दाँव–पेंच से। नन्ददास के 'भँवर गीत' में कलात्मकता अधिक है, साथ ही व्यंग्य, उपालम्भ एवं कथा की अपेक्षा दार्शनिक विचारों का भी प्राधान्य है। इनकी गोपियाँ सूर की गोपियों की तरह सीधी और भोली नहीं हैं बल्कि वे पूर्ण तर्कशीला हैं, उद्धव को वे पूर्ण प्रत्युत्तर देती हैं।

एक बात और। सूर ने जहाँ एक ही बात को अधिक विस्तार दे दिया है, नन्ददास ने वहीं अपनी बात को एक ही बार में पूर्ण रूप से कह डाला है। इस कारण यद्यपि उनके भ्रमरगीत विषयक इन पदों में अनेक रूपता का अभाव तो अवश्य रहा किन्तु अनावश्यक विस्तार न हो सका और साथ ही व्यंग्य शैली भी अधिक विकसित हो गई। नन्ददास के उद्धव भी अपने कार्य में अधिक कुशल हैं तथा अपने सिद्धांतों पर अधिक विश्वास रखने वाले हैं। वे गोपियों से जल्द पराजित होना नहीं चाहते। फिर भी विरह–व्यथा एवं उपालम्भ के जितने मनोवैज्ञानिक चित्र सूर के भ्रमर गीत में मिलते हैं उतने नन्ददास के भँवर गीत में नहीं। भक्तिकाल के अन्य कवियों में तुलसीदास, रहीम, रसखान, मुकुन्ददास, घासीराम तथा मलूकदास ने भी इस प्रसंग पर थोड़े बहुत फुटकर पदों की रचना की है। लेकिन तुलसीदास और रहीम को छोड़कर अन्य कोई उतना महत्त्वपूर्ण न हो सका । यद्यपि तुलसीदास जी ने 'कृष्ण गीतावली' में इस प्रसंग को उठाया है, लेकिन मर्यादावादी कवि होने के नाते उनके इन पदों में व्यंग्य, उपालम्भ तथा विरह दशाओं के चित्रों का अभाव है। इनकी गोपियाँ अत्यन्त सरल तथा लज्जा शीला हैं। वे मूक रह कर ही उद्धव से अपनी मनोव्यथा कह देती हैं।

रहीम ने गोपियों की कृष्ण–वियोग–जनित व्यथा को व्यापक आधार पर अपनाया है। उनकी सहज मुग्धा गोपियों के वचनों में किसी भी प्रकार की कृत्रिमता नहीं है। उनकी अकथनीय व्यथा का चित्रण इसलिए हमारे हृदय को सीधे प्रभावित करता है क्योंकि वह जीवन की सहजतम परिस्थितियों पर आधारित है। उद्धव उन्हें अनेक 'परतीति' दिलाकर भी छल न सके और न ही गोपियाँ कृष्ण को भुला सकीं ।

रीतिकालीन कवियों ने भी इस परम्परा को अपनाया । लेकिन अधिकांशतः फुटकर छन्दों के रूप में ही, स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में नहीं । यह युग ही मुक्तक रचना का था। शायद इसीलिए स्वतंत्र ग्रंथों की रचना न हो सकी। यद्यपि रसनायक, रसरास, ग्वाल, ब्रजनिधि तथा प्रेमी जैसे कवियों ने इस प्रसंग पर स्वतंत्र ग्रंथों की भी रचना की लेकिन जैसा प्रभाव मतिराम, देव, घनानन्द आदि के फुटकर छन्दों का पड़ा, वैसा इन स्वतंत्र ग्रंथों का नहीं ।

रसनायक के 'विरह–विलास' में लगभग सौ छंद हैं । इसमें दोहे और कवित्त के माध्यम से पहले भाव और फिर उसका विस्तार किया गया है।

इन्होंने उद्धव को मथुरा से नहीं बल्कि द्वारिका से लाकर अपनी एक नयी सूझ का परिचय दिया है। शायद कृष्ण के मथुरा जैसे अत्यन्त निकट स्थान पर रहते हुए भी गोपियों का इस प्रकार का वियोग करना इन्हें पसन्द नहीं आया।

ग्वाल ने अपनी 25 कवित्त सवैयों वाली 'प्रेम पच्चीसी' में गोपियों की विरह व्यथा का प्रस्तुतीकरण बड़े ही मार्मिक शब्दों में किया है। इनकी गोपियों में खीझ की मात्रा अधिक है। कृष्ण से वे बेहद चिढ़ी हैं, उद्धव की बात सुनकर बुरी तरह क्रोधित हो जाती हैं और मन भर कर उनको जली–कटी सुना डालती हैं। सानुप्रासिक भाषा के कारण कथन और प्रभावशाली हो गया है।

ब्रजनिधि की 'प्रीति पच्चीसी' मात्र 28 छंदों की रचना है जिसमें एक दोहे और तीन सवैयों को छोड़कर शेष घनाक्षरी छंद हैं । ब्रजनिधि ने अपने इस प्रसंग में किसी का अनुकरण नहीं किया वरन् पूर्णतः मौलिक भावों को ही अपनाया है। इनकी विरह व्यथित गोपियों के हृदय में बहुत दिनों से एक तूफान घुटता रहा है और वह उद्धव के आ जाने पर एकाएक बाहर निकल आता है जिसमें हमें उनकी विरह–वेदना, उपहास, उपालम्भ तथा मान आदि के दर्शन होते हैं ।

बरकत उल्लाह प्रेमी ने भी भ्रमर गीत प्रसंग को बड़े विस्तार के साथ लिया है। इनकी गोपियाँ बड़े ही सुलझे मस्तिष्क वाली हैं। वे सगुण तथा निर्गुण दोनों रूपों की व्याख्या करती हैं और अपने प्रेम की अभिव्यक्ति करते हुए उनके पार्थिव और आध्यात्मिक दोनों पक्षों को स्पष्ट करती हैं ।

भ्रमर गीत विषयक फुटकर पद रचना करने वालों में मतिराम का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने अपने रीति शास्त्रीय ग्रंथों में यत्र–तत्र लक्षणों का उदाहरण देते हुए तथा कुछ स्वतंत्र पदों के रूप में भी भ्रमर गीत प्रसंग को लिया है। इनकी गोपियाँ व्यर्थ का वितण्डावात न करने वाली, अत्यन्त सरल हृदया हैं।

महाकवि देव ने उद्धव संदेश के प्रसंग में जिन पदों की रचना की है उनमें हमें उनके आचार्यत्व की ही प्रबलता दिखाई देती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे गोपियाँ आचार्य हों, जो भोले–भाले, अत्यन्त निरीह उद्धव को उपदेश दे रही हों तथा बात–बात में उन्हें डाँट लगा रही हों, और उनके उपहास और व्यंग्य–युक्त तिक्त वचनों को उद्धव चुपचाप सुनते रहते हैं ।

घनानन्द के भ्रमर गीत विषयक पदों में उनके हृदय की अथाह वेदना अपने स्वाभाविक रूप में साक्षात् होकर उतर आयी है। इनकी गोपियों के उपालम्भ बड़े मार्मिक हैं। उनमें एक अनोखी मिठास है तथा प्रत्येक हृदय को रसमग्न कर डालने की अनोखी क्षमता भी है।

दास, पद्माकर तथा सेनापति के भ्रमर गीत विषयक पदों में मात्र अलंकरण की ही वृत्ति प्रधान है, भावों की नहीं। इस कारण इनका कोई खास महत्त्व नहीं है।

भक्तिकाल से चली आती हुई इस परम्परा को आधुनिक काल के कवियों ने भी अपनाया। इस दृष्टि से सर्वप्रथम भारतेन्दु और प्रेमघन का नाम लिया जा सकता है।

यद्यपि भारतेन्दु ने फुटकर पदों की ही रचना की है। परन्तु स्वाभाविक भाव–व्यंजना तथा पद–लालित्य के कारण इनका उक्त परम्परा में खास महत्व है। परम्परानुसार भारतेन्दु की गोपियाँ भी उक्तियों, तर्कों और व्यंग्य के सहारे ही उद्धव को पराजित करती हैं। उनके इस प्रेम पूर्ण समर्पण में हमें उनकी आत्मा की गहराई मालूम पड़ती है।

प्रेमघन की गोपियाँ कृष्ण की अनन्य प्रेमिका हैं । लेकिन उनकी स्थिति कृष्ण के वियोग में 'जल बिन मीन' के समान हो गई है। उद्धव के आगमन पर कृष्ण का संदेश पाने की आकांक्षा में पहले तो वे बहुत प्रसन्न होती हैं लेकिन उनका रूखा उपदेश सुनकर उन्हें धक्का लगता है और वे मुँहफट बन जाती हैं।

खड़ी बोली में लिखा गया हरिऔध का 'प्रिय प्रवास' भ्रमर गीत परम्परा की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। संस्कृत वर्ण वृत्तों की अतुकान्त प्रणाली पर लिखे गए इस काव्य में युगीन समस्याओं को उठाया गया है। इसकी कथा कृष्ण के मथुरागमन से प्रारम्भ होती है और सारे काव्य में ब्रज तथा वहाँ के निवासियों की दशा का ही वर्णन है। इसमें उद्धव का संदेश लेकर आना भी वर्णित है। ग्रंथ का आधार शुद्ध मनोवैज्ञानिक और तर्क स्तरीय हैं। उद्धव के ब्रज आगमन प्रसंग को पूर्ण व्यावहारिक रूप प्रदान किया गया है। इसमें गोपियों की स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन है। राधा कृष्ण की अनन्य उपासिका के साथ ही परदुःख कातर समाज सेविका भी है। गोपियों के हृदय में कृष्ण के प्रति न तो उपालम्भ है और न व्यंग्य ही । वे तो कृष्ण से जगहित करने की बात कहती हैं–

प्यारे जीवें, जगहित करें ! गेह चाहे न आवें।

हरिऔध जी का यह प्रसंग तत्कालीन परिवर्तित विचार धारा के अनुसार लोकहित एवं समाज सेवा की भावना से ओतप्रोत है।

इसके बाद ब्रज भाषा के अन्तिम कवि जगन्नाथ दास रत्नाकर के 'उद्धव शतक' का इस परम्परा में नाम आता है। किसी विशेष मौलिक दृष्टिकोण को न अपनाते हुए भी इन्होंने अपने भ्रमर गीत को जिस साँचे में ढाल कर रखा है उसके लिए इनका नाम बड़े आदर पूर्वक लिया जाता है। मधुर भाषा, आकर्षक चित्रोपमता तथा अभिव्यंजना सौष्ठव की दृष्टि से यह काव्य विशेष महत्व रखता है। इसकी गोपियों की उक्तियों में कवि की सहृदयता के दर्शन होते हैं–

औसर मिले और सरताज कछु पूछेहिं तौ,
कहियौ कछू न दसा देखी सौ दिखाइयो।
आह के कराहि, नैन, नीर, अवगाहि कछू,
कहिबे को चाहि, हिचकी लै रहि जाइयो।।

"वास्तव में यदि देखा जाए तो भ्रमर गीत की परम्परा का समस्त सार सुव्यवस्थित रूप में उद्धव शतक में आ जाता है जो कवि की मौलिक प्रतिभा के साथ मिलकर अत्यधिक प्रभावशाली बन गया है जिसका कोई भी छंद निरर्थक नहीं है। उनकी गोपियों में हमें सूर की भाव प्रबल नारियों से लेकर आज तक की स्पष्ट बोलने वाली बुद्धि चतुर महिला के दर्शन हो सकते हैं।"

('भ्रमरगीतसार में काव्य, कला और दर्शन', प्रेम कृष्ण– पृ0–53)

इसके अनन्तर मैथिलीशरण गुप्त के 'द्वापर' में भी इस परम्परा के दर्शन होते हैं। गुप्त जी ने भ्रमर के स्थान पर विहंग को रख कर परम्परागत रूढ़ि को तोड़ने का प्रयास किया है। गुप्त जी की गोपियाँ जितनी प्रेम विह्वल और भाव प्रबल हैं उतनी ही बुद्धि चतुर भी। इसी प्रकार उनके उद्धव भी जितने ज्ञानी और बुद्धि प्रबल हैं उतने ही सरल हृदय और भावुक भी। प्रस्तुत प्रसंग में गुप्त जी की भाषा–शक्ति का भी अच्छा परिचय मिलता है।

कविवर सत्यनारायण कविरत्न का 'भ्रमर दूत' इस परम्परा में होते हुए भी इससे अलग है। इसका स्वरूप ही सर्वथा भिन्न है। इसमें उद्धव या गोपी कोई पात्र न होने से निर्गुण– सगुण की चर्चा भी नहीं है। इसमें केवल माँ यशोदा का पुत्र वियोग है तथा नये युग की समस्याओं एवं तत्कालीन

परिस्थितियों का समावेश है। युग के प्रभाव स्वरूप नारी शिक्षा, देश–प्रेम तथा राष्ट्रीय विचारधारा से सम्बन्धित बातें आ जाने के कारण इसका स्वरूप ही भिन्न हो गया है।

डा0 रमा शंकर शुक्ल की 'रसाल मंजरी' में विषय की प्राचीनता होते हुए भी वाग्विदग्धता, शब्द–क्रीड़ा तथा रचना चतुरता के कारण उसमें प्रभावोत्पादकता कुछ ज्यादा ही आ गई है ।

इसके अतिरिक्त पं0 द्वारिका प्रसाद मिश्र के 'कृष्णायन', लाला हरदेव प्रसाद के 'ऊधौ पच्चीसी', जगन्नाथ सहाय के 'कृष्ण सागर', डा0 श्याम सुन्दर दीक्षित के 'श्याम संदेश' तथा दिनेश सिंह के 'गोपी शतक' में भी इस परम्परा के दर्शन होते हैं ।

सूर का भ्रमर गीत

श्रीमद्भागवत से लेकर आज तक भ्रमर गीत की परम्परा का जो विकास हुआ, यदि उसका अध्ययन किया जाए तो मालूम होगा कि सूर का भ्रमर गीत प्रारम्भिक होते हुए भी इनमें सर्वोपरि है। व्यंग्य एवं उपालम्भ के साथ विरह वेदना की जैसी मार्मिक अभिव्यक्ति तथा मानव हृदय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का जैसा मनोवैज्ञानिक चित्रण हमें सूर के भ्रमर गीत में मिलता है, वैसा अन्य कवियों में नहीं ।

सूर का भ्रमर गीत विरह एवं प्रेम का अथाह सागर है और साथ ही विप्रलम्भ श्रृंगार का अक्षय भंडार भी। इसका प्रत्येक पद अपनी मार्मिकता एवं सजीवता में बेजोड़ है। सूर ने अपने भ्रमर गीत विषयक इन पदों में निर्गुण साधना की महत्ता का वर्णन किया है। उन्होंने गोपियों के दृढ़ प्रेम–विश्वास एवं उत्कृष्ट भक्तिभाव की ऐसी सुन्दर झाँकी प्रस्तुत कर दी है कि जिसे देखकर ज्ञान के प्रकांड पंडित उद्धव भी अपना ज्ञानगर्व भूल गए तथा निर्गुण ब्रह्म की उपासना छोड़कर सगुण ब्रह्म के उपासक बन गए।

सूर तथा नन्ददास आदि सभी भक्तिकालीन कवियों ने निर्गुण ब्रह्म को अनुपादेय बताते हुए सगुण ब्रह्म को ही उपादेय सिद्ध करने की चेष्टा की है। "इससे यह अनुमान होता है कि कदाचित् सूरदास, नन्ददास के समय में भक्ति और ज्ञान में संघर्ष चल रहा था । इतिहास के अध्ययन से यह बात ठीक सिद्ध होती है। मध्य युग में संत साधक ज्ञान को एकमात्र साधन बता चुके थे, इसलिए भक्त साधकों को, जो उनके बाद आए भक्ति को ही एकमात्र

साधन सिद्ध करने के लिए ज्ञान को अनुपादेय और कष्ट साध्य बताना पड़ा।

('सूर साहित्य की भूमिका,' डा0 राम रतन भटनागर – पृ0 233)

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि सूर का भ्रमर गीत वियोग श्रृंगार प्रधान काव्य है लेकिन इसमें वियोग दशा का ही चित्रण मात्र नहीं है अपितु वियोगिनी गोपियों के द्वारा अपने प्रियतम कृष्ण को दिए गए उपालम्भों का भंडार भी है। साथ ही निर्गुण– सगुण जैसे गम्भीर विषयों की चर्चा होने से यह विचारोत्तेजक भी हो गया है। गोपियों के उपालम्भों में उनका प्रेम विह्वल हृदय स्पष्ट रूप से खुलकर सामने आया है। उनके हृदय का ऐसा कोई कोना शेष नहीं रहा जहाँ सूर ने घुस कर झाँक न लिया हो ।

"उनकी असीम वेदना का कोई पक्ष अछूता नहीं रहा जिसको अन्तिम गहराई तक सूर ने न टटोला हो। उनके प्रेम रस से सराबोर हृदय को शुष्क बातों और अपरिचित उपेक्षा से जो धक्का लगा, उन पर जो प्रतिक्रिया हुई उसे सहज स्वाभाविक किन्तु मार्मिक रूप में मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शब्दों में उतार देना सूर जैसे अन्तर्दृष्टि रखने वाले कवि का ही काम था।"

('भ्रमरगीतसार में काव्य, कला और दर्शन,' प्रेम कृष्ण पृ0–60)

भ्रमर गीत प्रसंग को दार्शनिक दृष्टिकोण से देखने पर मालूम होता है कि गोपियों की वेदना, गोपियों की ही नहीं वरन् नारी मात्र की वेदना है, हर बिछुड़ी आत्मा की वेदना है ।

भ्रमर गीत का वास्तविक सौन्दर्य दो बातों में दिखाई पड़ता है– विरह संतप्त हृदयों की विभिन्न मनोदशाओं के चित्रण में तथा गोपियों द्वारा कही गई अनेक उक्तियों में । मनोदशाओं का चित्रण करने में सूर बेजोड़ हैं । मथुरा में सम्पूर्ण वैभव सम्पन्न होते हुए भी कृष्ण को ब्रज की याद आ ही जाती है और वे व्याकुल हो उठते हैं – ऊधौ, मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।

इतना ही नहीं भावनाओं के अत्यधिक उद्‌गार के कारण उनके मुँह से शब्द ही नहीं निकल पाते – सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि–कहि पछिताहीं।

गोपियों के लिए भी उन्होंने पाती भेजी । लेकिन भाव विह्वल गोपियों ने तो श्याम की पाती को भी श्याममय बना डाला –

निरखत्त अंक स्याम सुन्दर के बार–बार लावति छाती ।

लोचन जल कागद मसि मिलिके ह्वै गई स्याम स्याम की पाती ।।

इसके बाद उद्धव ने ज्ञान योग का रूखा संदेश कहना शुरू कर दिया– सुनि गोपी हरि को संदेस।

करि समाधि अन्तरगत ध्यावो, प्रभु को यह उपदेश ।

उद्धव का निरन्तर चलने वाला यह शुष्क उपदेश गोपियों के शांत मस्तिष्क को अशांत कर देता है और उनकी यह खीझ उपालम्भ बनकर फूट पड़ती है। गोपियों के इन उपालम्भों को ही देखकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कहा है कि– 'सूर सागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वैदग्ध्यपूर्ण अंश भ्रमर गीत है जिसमें गोपियों की वचन–वक्रता अत्यन्त मनोहारिणी है। ऐसा सुन्दर उपालम्भ काव्य और कहीं नहीं मिलता।' उद्धव का उपहास करने में भी गोपियाँ पीछे नहीं हैं । उद्धव उन्हें बीच में भटके हुए प्राणी की तरह लगते हैं, अतः वे कह उठती हैं – ऊधौ जाहु तुम्हैं हम जानें । स्याम तुम्हैं ह्याँ नाहिं पठाए तुम हो बीच भुलाने।।

उद्धव के मुख से बार–बार निर्गुण की चर्चा सुनकर अंत में गोपियाँ पूछ ही बैठती हैं – निर्गुण कौन देस को वासी । मधुकर ! कहि समुझाय सौंह दै, बूझत साँच न हाँसी ।।

इतना ही नहीं उसकी पूरी वंश परम्परा को जान लेने के लिए वे आतुर हो उठती हैं –

को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि को दासी । वे उद्धव की बात मानने को तैयार भी हो जाती हैं, लेकिन एक शर्त पर – तो हम मानैं बात तुम्हारी । अपनौ ब्रह्म दिखावहु ऊधौ, मुकुट पीताम्बर धारी । भजिहैं तब ताको सब गोपी सहि रहि हैं बरु गारी ।

लेकिन ऐसा संभव नहीं। इसीलिए तो वे उद्धव से पुनः कह बैठती हैं कि– काहै को रोकत मारग सूधौ ? सुनहु मधुप निरगुन कंटक ते राजपंथ क्यों रूँधौ ।

वे ऊधौ से स्पष्ट कह देती हैं कि मेरा मन तो एक था जो श्याम सुन्दर के पास चला गया । अब मैं किस मन से आपके निर्गुण का ध्यान करूँ– ऊधौ मन नाहीं दस बीस । एक हुतो सो गयौ स्याम संग, को आराधै ईस ।

हमारे मन तो श्री कृष्ण का मधुर स्वाद लेकर बिगड़ चुके हैं । वे तो केवल कृष्ण की मुस्कराहट ही देखना चाहते हैं । आपकी ज्ञान की बातें हमारी समझ में नहीं आतीं -- मधुकर ये मन बिगरि परे । समुझत नहीं ज्ञान गीता कौ मृदु मुसकानि अरे ।।

उनके हृदय में तो माखन चोर गड़ गए हैं । और वह भी सीधे नहीं, बल्कि तिरछे होकर। तब तो निकलना और भी असंभव है। गोपियों ने स्त्रियों को योग के लिए सर्वथा अनधिकारी बतलाया, दूसरे वह इतना वजनदार है कि उनसे संभाले नहीं संभलता । निर्गुण–सगुण के खंडन–मंडन के साथ सूर के भ्रमर गीत की जो दूसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है, वह है गोपियों की दीन दशा, उनके हृदय की विह्वलता और प्रेम की अनन्यता का चित्रण ।

गोपियों के हृदय की वेदना कोई साधारण नहीं है। यह वेदना प्रिय की उपेक्षा के कारण उत्पन्न हुई है। इस वेदना के कारण रात–दिन उनके नेत्र बरसते रहते हैं –

निसि दिन बरसत नैन हमारे ।
सदा रहत पावस ऋतु हम पै जब तें स्याम सिधारे ।।

उनकी यह वेदना केवल उन्हीं तक सीमित नहीं है, उसका प्रसार बड़ा व्यापक हो गया है । उद्धव के शब्दों में उसका बड़ा मार्मिक चित्र उपस्थित किया गया है। स्वयं गोपियों ने भी ब्रज की स्थिति का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है– ऊधौ इतनी कहियौ जाइ । अति कृस गात भई हैं तुम बिनु परम दुखारी गाइ ।।

ब्रज की परिस्थिति बड़ी विषम हो गई है। गोपियाँ कृष्ण के वियोग में तड़पती हैं, परन्तु वे यह नहीं चाहतीं कि ऐसी विषम परिस्थिति में वे ब्रज आयें– ऊधौ इतनी जाइ कहौ । सबै विरहिनी पा लागति हैं मथुरा कान्ह रहौ।। भूलिहुं जनि आवहु इहिं गोकुल, तपति तरनि ज्यौं चंद । सुन्दर वदन स्याम कोमल तन, क्यौं सहि हैं नँद–नंद ।।

सूर के इस वियोग वर्णन में – "वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है वे उसके भीतर मौजूद हैं ।

(सूरदास, रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 104)

कलापक्ष की दृष्टि से भी भ्रमरगीत का महत्त्व कम नहीं है । कुशल अभिव्यंजना सौष्ठव, अनुपम चित्रोपमता, सौन्दर्यमयी अलंकार योजना तथा भावानुकूल प्रौढ़ भाषा एवं आकर्षक गीति–शैली के कारण सूर का भ्रमर गीत अपने में बेजोड़ है। उक्ति–वैचित्र्य एवं आलंकारिक कथनों के साथ–साथ लोकोक्तियों एवं मुहावरों का सफल प्रयोग भी दर्शनीय है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि सूर का यह भ्रमरगीत स्वयं में बेजोड़ है। काव्यपक्षीय दृष्टि से सूर सागर का यह अंश व्यंजना, माधुर्य ओर वियोग श्रृंगार का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसमें काव्य के साथ–साथ दार्शनिक पक्ष की भी पुष्टि होती है। वास्तव में सूर का भ्रमर गीत हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

7

सूर की सांस्कृतिक जीवन-दृष्टि

महाकवि सूर ने जिस संस्कृति का समर्थन किया है वह लोक संस्कृति है। उनके काव्य में जीवन की जो पृष्ठभूमि है वह सम्पूर्ण रूप से सामान्य जन–जीवन से सम्बन्धित है। उनका सूरसागर भागवत का भाषान्तर होते हुए भी आध्यात्मिकता से अलग है। सूरदास का आग्रह उसके संवेदनात्मक पक्ष की ओर अधिक है। उन्होंने भागवत के अध्यात्मोन्मुख कथा–प्रसंगों के भीतर से मानवीय संवेदना को उभारा है। इसके मूल में सूर की लोकधर्मी जीवन–दृष्टि है। उन्हें अपने चतुर्दिक् फैले जन–जीवन और समाज की गहरी और अन्तरंग पहचान है। और इसी पहचान के कारण उनके काव्य को गरिमा और महत्ता भी मिली है। श्रीमती शान्ता सिंह के शब्दों में –"लोक जीवन की आत्मीय सहजता, सम्बन्धों की अनौपचारिक उष्णता, निर्व्याज उन्मुक्तता, वस्तुतः यही सूर काव्य को गरिमा प्रदान करता है, उसे साहित्य का मुकुटमणि बनाता है, सूर को काव्याकाश का अप्रतिम सूर्य बनाता है। भक्ति सिद्धान्तों का निदर्शन परम्परा पालन का परिणाम है आनुषंगिक है। इस एक प्रयोजन, भक्तितत्त्व की व्यंजना के अतिरिक्त सूर ने शिशु और माता, पत्नी और प्रिया, किशोर और वयस्क पुरुष, सखा और प्रेमी जिसका भी चित्रण किया है उसकी सहज मानवीय संवेदना को ही पकड़ने की चेष्टा की है। उसके मर्म को लक्षित करने में सूर की निःसर्ग सहृदयता कभी चूक नहीं करती ।"

(सूरदास : कला एवं जीवन–दृष्टि, पृ0 100)

सूर द्वारा समर्थित संस्कृति ग्राम्य संस्कृति है। उसमें स्थान है तो केवल सामान्य लोगों के लिए। उनके चरित नायक श्रीकृष्ण भी जिस गोप जीवन के बीच विकास करते हैं वह राजसी ठाट–बाट और ऐश्वर्य की दृष्टि से बहुत सम्पन्न नहीं है। श्रीकृष्ण वन में मृगया के लिए नहीं बल्कि गोचारण के लिए जाते हैं। गोकुल में उनका सम्पूर्ण जीवन एक सामान्य गोप–बालक के जीवन की तरह व्यतीत होता है। अन्य गोप–बालकों के साथ वे भी अपनी गायें चराने जाना चाहते हैं, तभी तो वे माँ से कहते हैं –

हौं अपनी सब गाइ चरैहौं ।
प्रात होत बल कैं संग जैहौं, तेरे कहैं न रैहौं ।

माँ यशोदा उन्हें प्रेमवश अनेक तरह से समझाती हैं, लेकिन वे मानते ही नहीं । उनका तो तर्क है कि –

और ग्वाल सब गाइ चरैहैं मैं घर बैठो रैहौं ?

तब विवश होकर माँ को कहना पड़ता है कि अब तुम सो जाओ, सुबह मैं तुम्हें जाने दूँगी –

सूर स्याम तुम सोइ रहौ अब, प्रात जान मैं दैहौं।

प्रातः होने पर कृष्ण आनन्द मुद्रा में गाय चराने के लिए दौड़ पड़ते हैं–

अति आनन्द भए हरि धाए।
टेरत ग्वाल–बाल सब आवहु, मैया मोहिं पठाए।
उत तैं सखा हँसत सब आवत, चलहु कान्ह बन देखहिं।
बनमाला तुमकौं पहिरावहिं, धातुचित्र तनु रेखहिं।

फिर क्या था ? अब तो वे गोप–बालों की सेना के साथ वन–वन धेनु चराते हुए फिरने लगे –

बन–बन फिरत चारत धेनु ।
स्याम हलधर संग संग बहु गोप–बालक–सेन।।

एक सामंत के यहाँ जन्म लेकर भी सूर के कृष्ण इसी तरह का सामान्य जीवन व्यतीत करते हैं। सूर द्वारा चित्रित कृष्ण का यह जीवन परिदृश्य इसी कारण हमें बहुत परिचित और आत्मीय लगता है। इस ग्राम्य जीवन में सहजता, सरलता और निश्छलता के दर्शन होते हैं। यहाँ दिल के साफ लोग रहते हैं, दिल के काले नहीं । दिल के काले तो मथुरा में रहते हैं । गोपियाँ उद्धव से कहती भी हैं –

विलग जनि मानौ ऊधौ प्यारे ।
वह मथुरा काजर की ओबरी, जे आवै ते कारे ।

इसके विपरीत ग्रामीण समाज में सहज आत्मीयता के मानदण्ड ही अलग होते हैं । वहाँ पारस्परिक व्यवहार का निर्धारण सामाजिक या जातीय

आधारों पर नहीं होता । पूरा गाँव अनेक परिवारों का समूह नहीं बल्कि एक बड़ी पारिवारिक इकाई होता है, जिसमें सबके बीच पारिवारिक सम्बन्धों के अनुसार छोटे–बड़े का अधिकार और स्थान तय होता है। नन्द और यशोदा गाँव के बड़े हैं, इसलिए उन्हें गाँव के लोगों को डाँटने – डपटने या समझाने का पूरा अधिकार है। लेकिन नहीं, सामाजिक असमानताजन्य कटुता के निवारण का यह कैसा समाधान है ! यशोदा नंद की पत्नी हैं तो क्या हुआ। गलती या असावधानी करने पर उन्हें भी डाँट पड़ेगी। वे बालक को आँगन में अकेला खेलता हुआ छोड़ देती हैं कि अचानक आँधी आती है और कृष्ण उसमें गायब हो जाते हैं। यह तो उनका भाग्य अच्छा था, इसलिए बच गये । यशोदा की इस असावधानी पर एक ग्वालिनि उन्हें डाँटते हुए कहती है–

भली नहीं यह प्रकृति जसोदा, छाँड़ि अकेली जाति।
गृह कौं काज इनहुँ तैं प्यारो, नैंकहुँ नाहिं डराति ।।

उस आत्मीय समाज में एक का बालक सबका बालक होता है, एक की खुशी सबकी खुशी होती है। वहाँ बड़े–बूढ़े सबको डाँटने–फटकारने के अधिकारी होते हैं । वस्तुतः इस जीवन में लोक–मन का हर्ष–विषाद, क्रोध–क्षोभ, आवेश और आह्लाद सब कुछ पुस्तक के खुले पृष्ठ के समान प्रत्यक्ष है। निष्कपट, निश्चल, अकृत्रिम लोक व्यवहार की यह सहज शोभा हमें अन्यत्र नहीं मिलेगी ।

कृष्ण अब बड़े हो गये हैं। वे घर–घर माखन चुराने जाने लगे हैं । ग्वालिनें शिकायत लेकर आती हैं। लेकिन यशोदा पर तो अपना बड़प्पन सवार है। वे बड़बड़ाने लगती हैं कि मेरे यहाँ तो ईश्वर का दिया हुआ बहुत सा दूध दही है। दूसरे लोग भी मेरे यहाँ से आकर खा–पी जाते हैं । यदि तेरे घर मेरा पुत्र चला ही गया और भूल से थोड़ा सा पी ही गया तो तू ऐसे गरज रही है जैसे घोड़े पर चढ़कर आई है –

मेरे बहुत दई कौ दीन्हौं, लोग पियत हैं औरै ।
कहा भयौ तेरे भवन गये जो पियौ तनक लै भोरै।
ता ऊपर काहैं गरजति है मनु आई चढ़ि घोरै ।

लेकिन ग्वालिनें भला कहाँ चुप रहने वाली हैं। एक दिन का किस्सा हो तो वे बर्दाश्त भी कर लें, लेकिन यह तो रोज–रोज का किस्सा हो गया

है। अतः वे यशोदा से कहती हैं कि लो अपना गाँव सम्हालो। तुम तो अपने बेटे का ही पक्ष लेने लगी ।

अपनो गाउँ लेउ नंदरानी ।
बड़े बाप की बेटी, पूतहिं भले पढ़ावति बानी ।

वे यशोदा से यह भी कह देती हैं कि क्या अपनी जातिवालों से झगड़ा करके दूसरी जातिवालों को अपने आस – पास बसाने का इरादा है?

जाति–पाँति के लोग न देखत और बसैहै नै री।

तुम अपने बेटे का मना नहीं कर सकती, एक तुम्हारा ही अनोखा बेटा है क्या?

सूर–स्याम को हटकि न राखै तैं ही पूत अनोखौ जायौ।

गोपियाँ बेहद खीझ जाती हैं और कहती हैं कि अब तो ब्रज का बसना ही छोड़ना पड़ेगा, क्योंकि यशोदा तो ऊसर की वर्षा की तरह उतरा चली हैं –

ह्याँ लगि नैकु चलौ नंदरानी ।
हमैं तुम्हैं रिस बैर कहाँ को आनि दिखावत ज्यानी।।
या व्रज को बसिबौ हम छांड़्यौ सो अपने जियजानी।
सूरदास ऊसर की बरषा थोरे जल उतरानी।।

इतनी जली कटी शिकायतों, उलाहनों और तानों से तंग आकर जब माँ यशोदा गुस्से में भरकर कृष्ण को ओखली से बाँध देती हैं तो यही गोपियाँ कृष्ण की ओर से सिफारिश भी करने लगती हैं –

जसुदा तेरो मुख हरि जोव ।
जो तेरौ सुत खरो अचगरौ, तऊ कोखि कर जायौ।

एक तो झल्लाकर यहाँ तक कह देती है –

ऐसी रिस तोकौ नंदरानी ।
भली बुद्धि तेरे जिय उपजी बड़ी बैस अब भई सयानी।
ढोटा एक भयौ कैसेहुँ करि कौन–कौन करबर विधि मानी।
क्रम–क्रम करि अबलौं उबर्‌यौ है ताको मारि पितर दै पानी।
को निरदई रहे तेरे घर, को तेरे संग बैठे आनी ।

वस्तुतः क्रोध – क्षोभ का ऐसा अनावृत–अकुंठरूप, परम आत्मीयता, अखंड विश्वास और सौहार्द्र ग्राम्य–जीवन में ही सम्भव है । नागरिक जीवन की शिष्ट औपचारिकता हमें सहज भावोद्रेक को अनेक पर्तों के भीतर अवरूद्ध करके जीना सिखाती है।

सूर द्वारा वर्णित ग्राम्य समाज, भरा – पूरा जीवन्त समाज है। उसमें ऐसे कार्यों का अनुसरण नहीं करने दिया जाता जिससे परिवार की मर्यादा नष्ट हो। राधा ऐसा ही कर्म करती है। वह कृष्ण से लुक–छिप कर प्रेम करती है, इसकी चर्चा सभी गाँव वालों ने सुन रखी है। अतः सासें अपनी–अपनी बहुओं को राधा के कुसंग से बचने के लिए सावधान करती हैं –

सासु ननद घर त्रास दिखावैं ।
तुम कुल वधू लाज नहि आवति, बार–बार समुझावैं।
राधा कौ तुम संग करत हौ, ब्रज उपहास उड़ावैं।
वे हैं बड़े महर की बेटी, तौ ऐसी कहवावैं ।
सुनहु सूर यह उनहीं फाबै, ऐसी कहति डरावैं ।

परिवार के गुरुजन कहते हैं कि हम साधारण ब्रजवासी अहीर हैं, ऐसी चाल चलो कि कोई हँसे नहीं । तुम तो कुलवधू हो तुम्हें निर्लज्ज आचरण नहीं करना चाहिए । राधा की करनी तो उसे ही शोभा देती है। तुम उसके साथ मत जाना । राधा जो कर रही है वह करे, पर तुम कोई ऐसा कार्य मत करना जिससे समाज के उपहास का पात्र बनो । स्वयं राधा को भी इसी स्थिति का सामना करना पड़ता है। वह कृष्ण से अपनी विपत्ति कहती है कि हमें माता–पिता डराते हैं, भाई मारने को दौड़ते हैं । माँ कहती हैं कि तुम कुलीन घर की लड़की हो, तुम्हें लज्जा नहीं आती ? पिता मन ही मन में क्रोधित होते हैं, बहिन कुलकलंकिनी कहकर गाली देती है –

मातु पिता अति त्रास दिखावत।
भ्राता मोहिं मारन कौ घिरवै, देखै मोहिं न भावत।
जननी कहति बड़े की बेटी, तोकौं लाज न आवति।
पिता कहैं कैसी कुल उपजी, मनहीं मन रिस पावति।
भगिनी देखि देति मोहि गारी काहैं कुलहिं लजावति।
सूरदास प्रभु सौं यह कहि–कहि, अपनी विपति जनावति।।

सूर ने ऐसी संस्कृति को अपनाया है जिसमें छल–कपट के लिए कोई स्थान नहीं है। जो आदर्शारोपण से मुक्त है। तभी तो सूर की सीता ग्राम वधुओं के प्रश्नों का उत्तर देती हुई कहती हैं –

सासु की सौति सुहागिनि सो सखि पियकी अति ही प्यारी।
अपने सुत कौं राज दिवायौ हमकौ देस निकारी।।

वस्तुतः सीता के इस कथन में अन्याय के विरुद्ध अकृत्रिम क्षोभ और परिस्थिति की सहज व्याख्या है, जो स्वाभाविक है।

तात्पर्य यह है कि किसी प्रकार के आदर्शारोपण से मुक्त, सहज लोकानुभव सूर के काव्य का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। लोक – संस्कृति की जितनी गहरी और व्यापक जानकारी उन्हें है वह आश्चर्य में डालने वाली है। लोकपरम्पराओं और व्यवहारों तथा लौकिक उत्सवों और संस्कारों का ज्ञान, लोक भाषा की भंगिमा, लोक गीतों के छंद और अभिव्यंजना की पद्धति तक का जो प्रयोग कवि ने किया है वह तो है ही, निर्गुण–सगुण जैसे शास्त्रीय विषय में भी उन्होंने भक्ति की उत्कृष्टता को प्रमाणित करने के लिए लोकग्राह्यता को ही आधार बनाया है। सूरदास ने बड़े कौशल से इस तात्त्विक विषय को व्यावहारिक स्तर पर लोकग्राह्यता के प्रश्न से जोड़ दिया है। उनका मत है कि जो लोक से ग्राह्य हो वही सर्वोत्कृष्ट है। गोपियां कहती हैं कि प्रेम से पहले परिचय आवश्यक है। जिस निर्गुण को हम जानतीं ही नहीं उससे प्रेम कैसे करें –

रूप रहित निरगुन नीरस नित निगमहु परत न जानि ।
सूरजदास कौन विधि तासौं अब कीजै पहिचानि ।

उनके लिए तो निर्गुण – चर्चा पानी में से मक्खन निकालने, सोने के मृग देखने या बिना भित्ति के चित्र बनाने जैसी है –

कंचन को मृग कौने देख्यौ किन बांध्यौ गहि डोरी ।
कहि धौं मधुप वारि तें माखन कौने भरी कमोरी ।

वे तो उद्धव से कहती हैं कि यदि आप सचमुच कृष्ण के मित्र हैं और हमारे दुःखों को दूर करने की सद्भावना लेकर आए हैं तो वही कीजिए जिससे हमारा दुःख दूर हो। हमें तो कृष्ण की कथा सुनाइये –

हमकौ हरि की कथा सुनाउ।
ये आपनी ज्ञान गाथा अलि मथुरा ही लै जाउ।
जो सुचि सखा स्याम सुन्दर कौ अरु जिय में सति भाउ।
तौ बारक आतुर इन नैननि हरि मुख आनि दिखाउ।
जो कोउ कोटि करै कैसेहु विधि बल विद्या व्यवसाउ।
तउ सुनि सूर मीन कौ जल बिन नाहिंन और उपाउ।।

गोपियों का सबसे बड़ा तर्क है कि जो इन्द्रिय ग्राह्य है, अनुभवगम्य है, प्रत्यक्ष ही सुख का कोष लुटा देने वाला है, उसे छोड़ कर कौन निर्गुण ग्रहण करे और जोग सीखे –

ए अलि कहा जोग में नीको ।
तजि रस रीति नन्दनन्दन की सिखवत निरगुन फीको ।

वस्तुतः सूरकाव्य के शाश्वत रस का अक्षय स्रोत उसमें लोक–जीवन की मटियाली गंध का टटकापन है, नैसर्गिक जीवन का थिरकता उल्लास है। पारस्परिक सम्बन्धों की सहज हार्दिकता का माधुर्य है । सूर द्वारा समर्थित यह संस्कृति ही ऐसी है जिसे कभी छोड़ने को मन नहीं करता। राजसी सम्पन्नता के बीच पहुँच कर भी कृष्ण का मोह अपने गोकुल के प्रति ही है। तभी तो वे उद्धव से कहते हैं –

ऊधौ मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुन्दर कगरी अरु कुंजन की छाँहीं।
वे सुरभी वे बच्छ दोहनी खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वालबाल सब करत कोलाहल नाचत गहि–गहि बाँहीं।
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुखकी जिय उमगत तन नाहीं।
अनगन भाँति करी बहु लीला जसुदा नंद निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै यह कहि–कहि पछिताहीं।।

हे उद्धव ! यद्यपि मथुरापुरी अत्यंत मनोहर है, फिर भी ब्रज की सुधि तनिक भी नहीं जाती है। ब्रज की मुझे बहुत याद आती है –

ब्रज सुधि नैकुहूँ नहिं जाइ ।
जदपि मथुरापुरि मनोहर, बिरद जादौराइ ।
जौ कोऊ कहि कान्ह टेरत, चौंकि चितवत धाइ ।

ग्वालिनी अवलोकि पाछै रहति सीस नवाइ ।
देखि सुरभी बच्छ हित जल रहत लोचन छाइ ।
सृंग बेनु विषान सुनि कै, उठत हेरी गाइ ।
देखि पत्र पलास के अलि, रहत उर लपटाइ ।
आनि छबि पै पान कै प्रभु पिवत जल मुसुकाइ ।
मोर के चंदवा धरनि तैं स्याम लेत उठाइ ।
छाक छवि कै कोस भोजन हँसत दधि परसाइ ।
कुंज केलि समान नाहीं सुरपुरी सुखदाइ ।
बीसर्‌यौ नहिं सूर कबहूँ, नंद जसुदा माइ ।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सूर काव्य के इस वैशिष्ट्य को लक्ष्य करते हुए लिखा है– "असल में सूरसागर शास्त्रीय वैष्णव–भक्ति शास्त्र से प्रेरणा अवश्य लेता है, पर शास्त्रीय की अपेक्षा लोक–धर्म के अधिक निकट है................ लोक–जीवन को गोप–गोपाल लीला के बहाने उन्होंने अत्यंत जीवंत रूप में उजागर किया।"

(आलोचना, अंक–44)

सूर की जीवन–दृष्टि के सम्बन्ध में कह सकते हैं कि सूर ने लोक को पहचाना है, अपनी संस्कृति को पहचाना है, जीवन के मूलस्रोत को पहचाना है। उनके सूरसागर के अभिनव सौन्दर्य का यही रहस्य है।

8

तुलसी की कृष्ण भक्ति

भक्त शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास के बारे में बहुत से लोगों का यह मत है कि वे कट्टर रामोपासक हैं, पर उनके समग्र साहित्य का अनुशीलन करने पर उपर्युक्त धारणा का खण्डन हो जाता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें किसी सम्प्रदाय विशेष के प्रति धार्मिक कट्टरता नहीं है। गोस्वामी जी द्वारा रचित अल्प चर्चित और उपेक्षित रचना 'श्री कृष्णगीतावली' उन्हें सूरदास, नन्ददास आदि प्रतिष्ठित कृष्णभक्त कवियों की श्रेणी में ला खड़ा करती है। इसके अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि गोस्वामी जी मात्र राम के ही उपासक नहीं हैं, राम के साथ – साथ वे कृष्ण के भी आराधक हैं । उन्होंने श्रीकृष्ण की भी उसी रूप में वंदना की है जिस रूप में श्री राम की । कृष्ण का चरित्र भी उन्हें उतना प्रिय है, जितना कि राम का ।

गोस्वामी जी की कृष्ण भक्ति के पीछे एक कारण बताया जाता है। गोस्वामी जी ने कई बार ब्रज की यात्रा की और श्रीनाथ जी के दर्शन किये। पर उनके हृदय में श्री कृष्ण के प्रति वह अनुराग न उत्पन्न हो सका जो श्री राम के प्रति था । वे तो भगवान के लोक रक्षक रूप के ही उपासक थे। उन्हें अपने प्रभु का वह रूप प्रिय था जो हाथ में धनुष बाण धारण कर दुष्टों का संहार करता है।[1] भगवान श्रीकृष्ण ने उनका यह आशय जानकर धनुर्धारी रूप धारण कर लिया । तब गोस्वामी जी ने भी अपना मस्तक नवा दिया और उनकी स्तुति में 'श्रीकृष्ण गीतावली' की रचना कर डाली । वस्तुतः यहीं से गोस्वामी जी का अन्तर्द्वन्द्व समाप्त हो गया और वे कृष्ण के भी भक्त बन गए ।

'रामचरितमानस' में तो गोस्वामी जी ने राम के सम्पूर्ण चरित्र को लिया है पर 'श्रीकृष्णगीतावली' में वे कृष्ण के केवल कुछ रूपों पर ही रीझे हैं ।

इस संबंध में एक दोहा भी प्रचलित है–

का बरनौं छवि आज की, भले बने हो नाथ।
तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बाण लो हाथ।।

इनमें भी उन्हें कृष्ण का बालरूप ही अधिक प्रिय रहा है। होता भी क्यों न ? श्री कृष्ण का अवतार ही बालकेलि–लीला–रस के लिए हुआ है। गोस्वामी जी इसको नहीं भूलते –

तुलसी प्रभु प्रेम बिबस मनुज रूपधारी ।
बालकेलि लीला रस ब्रज जन हितकारी ।।

(श्रीकृष्ण गीतावली, पद सं०–1)

मां यशोदा, बालकृष्ण को गोद में लेकर बार–बार उनका मुख देखकर हर्षित हो रही हैं । कृष्ण उनसे पूछते हैं कि–माँ तू इतना प्रसन्न क्यों हो रही है ? मां यशोदा उत्तर देती हैं कि तेरा मुख कमल देखकर ही मैं प्रसन्न हो रही हूँ और यह प्रसन्नता ऐसी है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता । इसलिए मेरी इच्छा है कि तू अपना मुख बार–बार हमें दिखाता रहे ।'

गोस्वामी जी ने बालकृष्ण के उस रूप को लिया है जब वे थोड़ा बड़े होते हैं और बाल जिज्ञासावश माँ यशोदा से अनेक प्रश्न करते हैं और साथ ही उनका समाधान भी चाहते हैं । भूख लगने पर वे मां यशोदा से छोटी किन्तु मोटी, चिकनी, मिस्सी, घी लगी हुई रोटी की मांग करते हैं और साथ ही यह भी हिदायत दे देते हैं कि सारी की सारी मैं ही खाऊँगा, इसमें से बलदाऊ भैया को कुछ नहीं दूँगा । मां के यह पूछने पर कि – सो क्यों?' कहते हैं कि अरे भटू! इसमें तेरा क्या जाता है।' और वे रोटी लेकर बालकों को बुलाकर उन्हें दिखा–दिखाकर खाते हैं और मांगने पर न देकर उन्हें चिढ़ाते हैं । उनके इस चरित्र को देखकर गोपियां और मां यशोदा मोद में भर जाती हैं । गोस्वामी जी को भी उनका यही रूप प्रिय है जो सुर, नर और मुनियों का मन मोह लेता है –

बाल बोलि डहकि बिरावत, चरित लखि,
गोपी गन महरि मुदित पुलकित गात ।
नूपुर की धुनि किंकिनि को कलरव सुनि,
कूदि कूदि किलकि किलकि ठाढ़े ठाढ़े खात।
तनियाँ ललित कटि, बिचित्र टेपारी सीस,
मुनि मन हरत बचन कहैं तोतरात ।

तुलसी निरखि हरषत बरसत फूल,
भूरि भागी ब्रजवासी बिबुध सिद्ध सिहात ।।

(श्रीकृष्ण गीतावली, पद सं०–2)

गोस्वामी जी के कृष्ण जब कुछ बड़े होते हैं तो उनकी लीलाएं भी बढ़ जाती हैं और वे घर–घर जाकर मक्खन चुराने लगते हैं । चोरी करेंगे तो उलाहना आएगा ही । गोपियाँ कहती हैं –

तोहिं स्याम की शपथ जसोदा ! आइ देखु गृह मेरे ।
जैसे हाल करी यह ढोटा छोटे निपट अनेरे ।।
गोरस हानि सहौं, न कहौं कछु, यहि ब्रजवास बसेरें।
दिन प्रति भाजन कौन बेसाहै? घर निधि काहू केरे।।
किएँ निहोरे हँसत, खिझे तें डाँटत नयन तरेरे ।
अबहीं ते ये सिखे कहाँ धौं चरित ललित सुत तेरे ।।

(श्रीकृष्ण गीतावली, पद सं०–3)

गोपियाँ और भी कहती हैं कि इस समय मां की ओर ताकता हुआ ऐसा सिमट कर बैठा है मानों इससे सज्जन कोई दूसरा है ही नहीं। गोस्वामी जी के शब्दों में ग्वालिनी कहती है कि कन्हैया ! सुबह जो तुम कहकर भाग आये थे, वह कह दूँ ?

'तुलसिदास प्रभु कहौं ते बातैं जे कहि भजे सबेरे।'

(श्रीकृष्ण गीतावली, पद सं०–3)

कृष्ण भी कम चालाक नहीं हैं। वे झट बहाना बना जाते हैं और मैया से कहते हैं कि 'ये गोपियाँ झूठ–मूठ का ही दोषारोपण कर रही हैं । इन्हें तो पराये घर की बानि ही पड़ गयी है, इसीलिये तो नाना युक्ति बनाया करती हैं। इनके लिये तो मैंने खेलना तक छोड़ दिया । ये स्वयं ही बर्तनों को फोड़कर, दही – दूध में हाथ डुबोकर उलाहना देने चली आती हैं ।'

अपनी सफाई में वे कहते हैं कि यदि मेरी बात का विश्वास न हो तो हलधर से पूछ लो, जो मुझे हमेशा अपने साथ खेलाते हैं –

'मेरी टेव बूझि हलधर सों, संतत संग खेलावहिं ।

(श्रीकृष्ण गीतावली, पद सं०–3)

इतना ही नहीं, वे यह भी कहते हैं कि – वे शिशु मुझे अच्छे नहीं लगते जो किसी का अन्याय करते हैं ।' गोपियाँ उनके इस वाक् चातुर्य को देखकर मन ही मन प्रसन्न होती हैं । मां यशोदा भी उनके इस भोलेपन से प्रभावित होती हैं और उल्टे गोपियों को ही बुरा–भला कहती हैं। कृष्ण को भी वे समझाते हुए कहती हैं –

हौं बलि जाउँ जाहु कितहू जनि, मातु सिखावति स्यामहिं।
बिनु कारन हठि दोष लगावति तात गएँ गृह ता महिं ।।

(श्रीकृष्ण गीतावली, पद सं०–5)

कृष्ण कहते हैं कि ब्रज में तो बहुत से लड़के हैं, क्या एक मैं ही अन्यायी हूं ? इस ग्वालिन को तुमने मुँह लगा रक्खा है, इसीलिए तो सिर पर चढ़ी जा रही है, आखिर अहीरनी ही तो है। एक तुम इसे सीधी मिल गई हो –

या ब्रज में लरिका घने, हौं ही अन्याई।
मुँह लाए मूंडहिं चढ़ी, अंतहु अहिरिनि, तू सूधी करि पाई।

(श्रीकृष्ण गीतावली, पद सं०–8)

लेकिन ग्वालिनी तो ग्वालिनी ही ठहरी । वह भला क्यों मानने वाली? वह तो उलाहना देकर ही रहेगी । इस पर माँ यशोदा पुनः कहती हैं कि दुध मुंहे बच्चे पर ऐसा दोष लगाना ठीक नहीं, अभी तो मेरा लाल स्तनपान करना भी नहीं छोड़ सका है। माँ कृष्ण को भी बड़े प्यार से समझाते हुए कहती हैं कि मेरे लाल ! इस ललित लड़कपन को अब छोड़ दो । नन्द बाबा ने अब तुम्हारे ब्याह की बात चलाई है। कल तुम्हें लोग देखने के लिए आएंगे । वे चोरी की बात सुनेंगे तो डर जाएंगे, और तुम्हारा ब्याह नहीं होगा। तुम्हारी नई दुलहिनी भी हँसी करेगी । कृष्ण इस पर मान जाते हैं, और नहा–धोकर चोटी गुँथवाकर तैयार हो जाते हैं, फिर माँ से कहते कि माँ अब तो बड़ी देर हो गई, कल कब आएगा । माँ कहती हैं कि अभी सो जाओ, जब सुबह सोकर उठोगे तो कल आ जायगा । इतना सुनकर कृष्ण 'अच्छा' कहकर आँख बन्द कर लेते हैं और थोड़ी देर बाद आँख खोलकर बोल उठते हैं कि अब सबेरा हो गया, लाओ झंगुली वगैरह पहन लूँ । माँ यशोदा कृष्ण की विवाह के लिए इतनी आतुरता देखकर मन ही मन प्रसन्न होती हैं। कृष्ण की इस बाल–लीला का चित्रण कर गोस्वामी जी ने इस क्षेत्र में

भी अपनी प्रतिभा का प्रकाश फैला दिया है। उनके ये चित्रण कहीं–कहीं तो सूरदास आदि कृष्ण भक्त कवियों से होड़ लेते दिखाई पड़ते हैं । डॉ0 रामकुमार वर्मा के शब्दों में "उनके (तुलसीदास) मनोवैज्ञानिक अध्ययन ने कृष्ण चरित्र को उत्कृष्ट साहित्य का रूप दे दिया हैं।" गोस्वामी जी ने कृष्ण के इसी बाल रूप की उपासना की है। उनका कहना है– श्रीकृष्ण ने जिन दो (जुड़वाँ) वृक्षों को उखाड़ फेंका, उन्हें देवता बना दिया। इन देव दामोदर से भला किसने कौन फल नहीं प्राप्त कर लिया ?

तुलसी जे तोरे तरु, किये देव दियो वरु,
कै न लह्यो कौन फरु देव दामोदर तैं ।

(श्रीकृष्ण गीतावली, पद सं०–17)

इतना ही नहीं, वे तीनों लोकों का मंगल बलराम श्रीकृष्ण से ही मानते हैं –

मंगल है तिहूं पुर हरि हलधर तें ।

(श्रीकृष्ण गीतावली, पद सं०–17)

देवगण इनकी बालकेलि को देखकर आकाश से पुष्पों की वर्षा करने लगते हैं । गोपों और गौओं के समूह प्रेम से शिथिल हो जाते हैं और ब्रज की गोपियाँ मार्ग में जहाँ की तहाँ चित्रलिखित सी खड़ी रह जाती हैं। लीला से मनुष्य बने हुए, तीनों लोकों को विमोहित करने वाले श्रीकृष्ण का यह रूप दैहिक और भौतिक तापों को हर लेता है–

तुलसिदास त्रैलोक्य बिमोहन ।
रूप कपट नर त्रिविध सूल हर ।।

(श्रीकृष्ण गीतावली, पद सं०–21)

श्रीकृष्ण की मोहिनी मुख–छवि का वर्णन करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं कि उनकी मुख–छवि का वर्णन चार मुख वाले ब्रह्माजी भी करना चाहें तो करोड़ों कल्पों में भी नहीं कर सकते । उनकी इसी मुख–छवि को देखकर गोपियों ने वेद मार्ग का उल्लंघन कर अपने पिता, पति तथा पुत्रों तक को भुला दिया और इनके समीप चली आयीं –

जदुपति मुख छवि कलप कोटि लगि,
कहि न जाइ जाके मुख चारौ ।
तुलसिदास जेहि निरखि ग्वालिनी,
भजीं तात पति तनय बिसारी ।।

(श्रीकृष्ण गीतावली, पद सं०–22)

कृष्ण की यह मोहिनी छवि जिसके हृदय में बस जाय फिर वह निकलती नहीं है। इसीलिए तो गोपियां कहती हैं कि मोहन की असंख्य कामदेवों की शोभा से सम्पन्न नील कमल के सदृश मूर्ति जिसके पवित्र हृदय में स्फुरित हो जाती है, वह उसके नेत्रों में लगी ही रहती है, सामने से कभी हटती ही नहीं । शेष, शारदा उनके एक अंग की शोभा का वर्णन करने में असमर्थ हैं। प्रभु की ऐसी मोहिनी मूर्ति में बड़े सौभाग्य से किसी का मन लग पाता है। और यदि लग जाता है तो फिर उतने से ही उसके सम्पूर्ण सुखों की पूर्ति हो जाती है–

तुलसिदास बड़े भाग मन, लागेहुँ ते सब सुख पूरति ।।

(श्रीकृष्ण गीतावली, पद सं०–28)

कृष्ण की मोहनी मूर्ति में यदि सच्चे अर्थों में किसी का मन रमा है तो वे हैं ब्रज की गोपिकाएँ, जिनकी भक्ति की गोस्वामी जी ने भूरि–भूरि प्रशंसा की है। गोस्वामी जी, गोपिकाओं का प्रेमवर्णन करते नहीं अघाते। इस प्रसंग पर उन्होंने 36 पदों की रचना की है। गोपियाँ कृष्ण के वियोग में दुःखी हैं और कहती हैं कि – उन्होंने प्रेम की जिस संजीवनी – लता को बोया तथा स्नेह–सुधा से सींच–सींच कर बढ़ाया उसी को लोक वेद की मर्यादा का तिरस्कार कर उखाड़ फेंका । उनके बिना आज इस ब्रज की कैसी दशा हो रही है? उद्धव उन्हें ज्ञान–मार्ग का उपदेश देने आते हैं पर उनकी भक्ति के आगे पराजित हो जाते हैं और उनका ज्ञान–गर्व भूल जाता है। गोस्वामीजी की गोपियाँ भी सूर की गोपियों की तरह उद्धव के ज्ञानमार्ग का तर्क द्वारा खंडन करती हैं । पहले तो वे नारी – स्वभाववश कुब्जा से ईर्ष्या करती हैं लेकिन फिर आपस में विचार कर कहती हैं कि यदि प्रियतम कृष्ण को प्राप्त करना है तो कुब्जा की अनुनय–विनय करनी होगी और उससे भी प्रेम करना होगा । कहा भी गया है कि प्रिय का स्नेह भाजन भी प्रिय के समान ही प्रिय होता है। अतः हमें कृष्ण और कुब्जा दोनों से सर्वदा

मन, वचन और कर्म से छल छोड़कर सच्चा प्रेम करना चाहिए। वस्तुतः यहाँ गोस्वामी जी ने गोपियों के प्रेम की पराकाष्ठा दिखाई है जहाँ इनका सपत्नी– भाव समाप्त हो जाता है और सब मिलकर कृष्ण और कुब्जा को पैर पड़कर मनाकर मथुरा से ब्रज में ले आने की बात सोचती हैं । ऐसा करने से ब्रज में सब लोग सुखी हो जाएंगे और बाबा नन्द तथा माँ यशोदा का भी दुःख दर्द दूर हो जायगा –

बसैं सुबास, सुपास होहिं सब फिरि गोकुल रजधानी ।
महरि महर जीवहिं सुख जीवन खुलहि मोद मनि खानी ।।

(श्रीकृष्ण गीतावली, पद सं०–48)

अतः हमें ईर्ष्या और अभिमान छोड़कर अपना हित करना चाहिए, यही मुनियों का उपदेश भी है। यदि कृष्ण यहाँ कुब्जा के साथ रहेगें तो दूसरे चौथे दिन उनके दर्शन हो ही जायेंगे।

गोपियाँ उद्धव से अनुनय विनय करती हुई कहती हैं कि यदि प्रियतम कृष्ण का ब्रज में बसना किसी प्रकार भी सम्भव न हो तो कम से कम एक बार यहाँ आकर दर्शन तो दे जायँ।

गोपियों ने लीला पुरुषोत्तम भगवान श्रीकृष्ण की प्रियतम रूप में अभ्यर्थना की है । वे गौओं के रक्षक हैं, गोकुल की ग्वालिनियों के प्रियतम हैं, गोपों तथा गो–सुतों के प्राण प्रिय हैं और भजन करने के योग्य हैं । वे देव मुनियों के लिए दुर्लभ होते हुए भी गोपियों के लिए सुलभ हैं । उनकी अनेक काम देवों के समान शोभा है। वे तीनों लोकों के मन को मोहित करने वाले तथा सबके मन का हरण करने वाले हैं । वे कमल के केसर सदृश पीत पट धारण किये हुए हैं। उनके सिर पर मयूरपिच्छ शोभित है, कानों में कुण्डल हैं । उनके अरुण कमल के सदृश नेत्र हैं, गले में गुन्जाओं की माला है। समस्त अंग धातुओं से चित्रित है। घुंघराली केशराशि है, सुन्दर तिलक है, मनोहर भौहैं हैं तथा उनका पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान सुन्दर मुख है। गोस्वामी जी कहते हैं कि ये ही वृन्दावन बिहारी श्यामसुन्दर हमारे कष्टों को हरण करने में समर्थ हैं –

गोपाल गोकुल बल्लवी प्रिय गोप गोसुत बल्लभं ।
चरनार बिंदमहं भजे भजनीय सुर मुनि दुर्लभं ।।
घनश्याम काम अनेक छबि, लोकाभिराम मनोहरं ।

किंजल्क बसन, किसोर मूरति भूरि गुन करुनाकरं।।
सिर केकि पच्छ, बिलोल कुंडल, अरुन बनरुह लोचनं।
गुजावतंस बिचित्र सब अंग धातु, भव भय मोचनं ।।
कच कुटिल सुन्दर तिलक भ्रू, राका मयंक समाननं ।

भरी सभा में द्रौपदी की लज्जा रखने वाले भगवान श्रीकृष्ण की भक्त वत्सलता त्रैलोक्य विदित है। ऐसे कृपामय मुरारि की कीर्ति सुनकर ऐसा कौन है जो उनके भक्ति पथ पर प्रसन्नता से नहीं चलेगा –

तुलसी कौ न होइ सुनि कीरति ।
कृष्ण कृपालु भगतिपथ राजी ।

9

भारतेन्दु युग

हिन्दी साहित्य के इतिहास का वह काल जिसका प्रतिनिधित्व भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने किया, 'भारतेन्दु युग' के नाम से जाना जाता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के इस कालखंड को मिश्र बन्धुओं ने 'परिवर्तनकाल' तथा 'वर्तमान हिन्दी काल' का नाम दिया है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने गद्य की दृष्टि से इसे 'हिन्दी गद्य साहित्य का प्रवर्तन काल' तथा काव्य की दृष्टि से इसे 'नई धारा' का काल माना है। जन चेतना के पुनर्जागरण के कारण भारतेन्दु युग 'पुनर्जागरण' काल भी कहलाता है । इस युग की परिव्याप्ति 'कवि वचनसुधा' के प्रकाशन काल (1868 ई0) से लेकर 'सरस्वती' के प्रकाशन वर्ष (1900 ई0) तक मानी जाती है ।

समकालीन परिस्थितियों की उपज

भारतेन्दु युग समकालीन परिस्थितियों की उपज है । राजनीतिक दृष्टि से यह भारत में अंग्रेजी साम्राज्य और उसकी विस्तारवादी नीति का काल है। कम्पनी के शासक पूरब से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तेजी से अपना अधिकार जमाते चले जा रहे थे । मराठों की पराजय तो पहले ही हो चुकी थी। 1849 ई0 में सिक्ख भी अंग्रेजों से पराजित हुए । आगे चलकर 1856 ई0 में अवध भी अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया । अंग्रेजों की इस विस्तारवादी नीति से असन्तुष्ट देशी राजाओं ने उनके खिलाफ व्यापक स्तर पर विद्रोह किया जो इतिहास में 1857 ई0 के विद्रोह के नाम से जाना जाता है । यह विद्रोह वस्तुतः पूँजीवादी और सामन्तवादी ताकतों के बीच हुआ जिसमें सामन्तवादी ताकतों का विनाश हो गया । अंग्रेजों ने इस विद्रोह में बड़ी नृशंसता का परिचय दिया । फलस्वरूप ब्रिटिश पार्लियामेन्ट ने ईस्ट इंडिया कम्पनी समाप्त कर दी और भारतवर्ष का शासन प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिया । नवम्बर सन् 1858 को ब्रिटेन की महारानी विक्टोरिया का घोषणा पत्र जारी हुआ जिसमें उन्होंने भारतीयों को उनके धर्म एवं संस्कृति की रक्षा का आश्वासन दिया, साथ ही अपनी आर्थिक, शैक्षणिक और प्रशासनिक नीतियों में भी परिवर्तन करने की बात की । इससे देश वासियों में कुछ आशा का संचार हुआ । लेकिन यह

स्थिति बहुत दिनों तक नहीं रही । 1866 ई0 में पड़ने वाले भीषण अकाल, महामारी, टैक्स तथा बेकारी ने लोगों की तन्द्रा भंग कर दी । विद्रोह का स्वर पुनः उभरने लगा । लेकिन इसके विस्फोटक रूप लेने के पहले ही सर ह्यूम द्वारा कांग्रेस की स्थापना कर दी गई । कांग्रेस का कार्य क्षेत्र पहले सामाजिक सुधारों तक ही सीमित था लेकिन लार्ड कर्जन की बंग--भंग नीति ने उसे एक आन्दोलन कारी संस्था का रूप दे दिया । आगे चलकर इसी संस्था द्वारा 1947 ई0 में ब्रिटिश शासन का अन्तिम संस्कार हुआ ।

अंग्रेज मूलतः व्यापारी थे । उनका मुख्य उद्देश्य था यहाँ से कच्चा माल अपने देश ले जाना और वहाँ से उसे पक्के माल के रूप में भारत लाना और यहाँ के बाजारों में मनमाने दामों पर बेचना । अपने इस स्वार्थ की पूर्ति के लिए उन्होंने यहाँ की अर्थ व्यवस्था को छिन्न – भिन्न कर एक नई अर्थ प्रणाली लागू की । इसी क्रम में कुटीर उद्योग धन्धों का भी विनाश हुआ । कृषि योग्य भूमि कई टुकड़ों में विभक्त हुई, कृषक और सरकार के मध्य अनेक मध्यस्थ पैदा हुए, उद्योगों के नष्ट होने के कारण कृषि पर अधिक भार बढ़ा । पर इस अर्थ व्यवस्था से देश को लाभ भी हुआ । कृषि की दशा में सुधार हुआ, बाजारों का निर्माण हुआ, यातायात के साधनों का विकास हुआ, अन्य बहुत सी सुविधाएं मिलीं जिससे फसल की उपज कई गुना बढ़ गई । नये उद्योग धन्धों का विकास हुआ । गाँवों की जड़ता टूटी और शहरों से उनका सम्पर्क हुआ । इस प्रकार भारतीय समाज विकास की एक नई दिशा की ओर अग्रसर हुआ ।

राजनीतिक और आर्थिक दृष्टियों में परिवर्तन से सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण में भी परिवर्तन हुए । पुराने धार्मिक संस्कार और रीति नीतियाँ पुरानी लगने लगीं । उन्हें नये युग के अनुकूल ढालने की बात महसूस की जाने लगी । इस दिशा में पहला कदम उठाया राजा राम मोहन राय ने । उन्होंने 1828 ई0 में "ब्रह्म समाज" की स्थापना की और भारतीय कर्मकाण्ड तथा अन्धविश्वासों का विरोध करते हुए हिन्दू धर्म की वैज्ञानिकता प्रतिपादित की । ब्रह्म समाज को देवेन्द्रनाथ टैगोर तथा केशवचन्द्र सेन से काफी बल मिला । केशवचन्द्र सेन के प्रभाव से ही 1867 ई0 में आत्माराम पांडुरंग ने मुम्बई में 'प्रार्थनासमाज' की स्थापना की जो अपने सिद्धान्तों में बहुत कुछ ब्रह्म समाज के ही समान था । भारतीय संस्कृति को नई व्याख्या देने के लिए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 1875 ई0 में मुम्बई में ही

आर्यसमाज की स्थापना की । मूर्ति पूजा, जातिप्रथा, बहुदेववाद, बालविवाह, अनमेल विवाह इत्यादि का विरोध करते हुए स्वामीजी ने हिन्दू धर्म को नवजागरण का संदेश दिया । समाज सुधार की इस दिशा में रामकृष्ण मिशन और थियोसोफिकल सोसायटी ने भी महत्वपूर्ण कार्य किया । ईसाई मिशनरियाँ भी इस कार्य में पीछे न थीं । ईसाई मत के साथ ही पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का भी वे प्रचार कर रही थीं । इस प्रचार को व्यापक और स्थायी बनाने के लिए उन्होंने इस देश में अनेक शिक्षण संस्थाओं की स्थापना भी की । इन्हीं अंग्रेजी शिक्षण संस्थाओं ने ऐसे बुद्धिजीवी वर्ग को जन्म दिया जो जन्म से तो हिन्दुस्तानी रहा लेकिन रहन–सहन और आचार–विचार से इंग्लिस्तानी बन गया । शिक्षा के व्यापक प्रचार – प्रसार एवं प्रकाशन की सुविधा ने नये साहित्यकारों को जन्म दिया । सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में होने वाले इन परिवर्तनों ने देश की जनता में एक नयी चेतना तथा पुनर्जागरण की भावना उत्पन्न की । फलतः साहित्यकार भी पुरातनता के मोह को त्यागने तथा नये विषयों से जुड़ने को विवश हुए।

साहित्य की प्रमुख दिशाएँ

भारतेन्दु युग से पूर्व हिन्दी साहित्य एक बँधी – बँधायी परिपाटी पर ही चल रहा था । भक्ति, श्रृंगार एवं रीति निरूपण ही उसके प्रमुख विषय थे। मात्र यहीं तक ही वह अपनी इतिश्री समझता था । भारतेन्दु युग में आकर नयी चेतना ने उसे नये विषय, नये आयाम दिये । फलतः साहित्य की धारा यहाँ आकर बहुमुखी हो उठी । समकालीन परिवेश के प्रति जागरूक भारतेन्दु युगीन कवियों में राष्ट्रीयता की भावना बड़ी प्रबल है। देश की उन्नति – अवनति के लिए उत्तरदायी परिस्थितियों पर प्रकाश डाल कर इस युग के कवियों ने जन मानस में राष्ट्रीय भावना के बीजवपन का महत्वपूर्ण कार्य किया । भारतेन्दु की 'विजयिनी विजय बैजयन्ती' प्रेमघन की 'आनन्द अरुणोदय' प्रताप नारायण मिश्र की 'महापर्व' और 'नया संवत' तथा राधाकृष्ण दास की 'भारत बारहमासा' और 'विनय' शीर्षक कविताएँ देशभक्ति की प्रेरणा से युक्त हैं । देश – प्रेम के साथ ही राज भक्ति की भावना भी इस युग के कवियों में मिलती है। राजभक्ति परक कविताओं में भारतेन्दु की 'भारतभिक्षा' 'विजयवल्लरी' और 'रिपनाष्टक' प्रेमघन की 'हार्दिक हर्षादर्श' और 'स्वागत' तथा राधाकृष्णदास की 'मेक्डानल्ड

पुष्पाञ्जलि', 'जुबिली' और 'विजयिनी विलाप' उल्लेखनीय हैं। वस्तुतः ये कविताएँ उस अवसर पर लिखी गई थीं जब कम्पनी के कठोर शासन का अन्त हो गया था और देश की सत्ता महारानी विक्टोरिया ने संभाल ली थी। महारानी की उदार नीति और उनके लम्बे – चौड़े प्रलोभनों ने कवियों को ऐसा करने को विवश कर दिया था । इसलिए हम इन कविताओं को राष्ट्रद्रोही स्वर से युक्त न मानकर नवीन राजनैतिक चेतना की प्रतीक मान सकते हैं ।

भारतेन्दु युगीन कविता में सामाजिक चेतना का भी अपना विशिष्ट रूप है। इस युग के कवियों ने जनता की समस्याओं के निरूपण की ओर पहली बार व्यापक रूप में ध्यान दिया । नारी शिक्षा, विधवा विवाह, अस्पृश्यता आदि को लेकर सहानुभूति पूर्ण कविताएँ लिखी गईं । आर्थिक विषमता तथा सामाजिक अन्तर्द्वन्द्व का खुलकर विरोध हुआ । वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था और उसकी संकीर्णता का भारतेन्दु ने अपने नाटक 'भारत दुर्दशा' में खुलकर विरोध किया । 'मन की लहर' में प्रताप नारायण मिश्र ने बाल विधवाओं की करुण दशा अंकित की है । स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग और विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का स्वर भी इस युग में प्रबल रहा है । भारतेन्दु की 'प्रबोधिनी', प्रेमघन की 'आर्याभिनन्दन', प्रतापनारायण मिश्र की 'होली है' तथा अम्बिका दत्त व्यास की 'भारत धर्म' शीर्षक कविताओं में यही स्वर मुखरित हुए हैं। इस युग के कवियों ने निम्नवर्गीय लोकचेतना का भी प्रतिनिधित्व किया । भारतेन्दु तथा प्रतापनारायण मिश्र ने भाव और शिल्प इन दोनों स्तरों पर इस चेतना का खुला समर्थन किया ।

भक्तिभावना से पूर्ण कविताएँ भी भारतेन्दु युग में खूब लिखी गईं । वह भावना चाहे राधा और कृष्ण की उपासना से सम्बन्धित रही हो अथवा देशानुरागव्यंजित । वैसे इस युग की अधिकांश कविताओं में भक्ति और देशप्रेम दोनों का सम्मिश्रण है । शुद्ध भक्ति से सम्बन्धित रचनाओं में बिहार के हरिनाथ पाठक की 'श्री ललितरामायण', वहीं के ही श्री अक्षयकुमार की 'रसिकविलास रामायण' तथा बाबू तोताराम की 'रामरामायण' प्रमुख हैं । ये सभी रामभक्ति से सम्बन्धित हैं । कृष्णभक्ति से सम्बन्धित रचनाएं भी इस युग में काफी लिखी गईं । कृष्णभक्तों में भारतेन्दु तो बेजोड़ ही हैं । वल्लभ सम्प्रदाय में दीक्षित ये 'कृष्ण के प्यारे सखा' और 'राधारानी के गुलाम' थे। कृष्णभक्ति से सम्बन्धित अनेक लघु ग्रन्थों का इन्होंने निर्माण किया। प्रेमघन

की 'अलौकिक लीला' शीर्षक कविता और अनेकानेक फुटकर पद, अम्बिकादत्त व्यास की 'कंस वध' शीर्षक प्रबन्ध रचना तथा राधाकृष्ण दास की विनय भाव युक्त 'श्रीकृष्ण स्तुति' भी कृष्ण काव्य के उल्लेखनीय उदाहरण हैं । देश – प्रेम से सम्बन्धित भक्ति रचनाओं में भारतेन्दु की 'जैन कुतूहल' तथा 'प्रबोधिनी' और राधाकृष्ण दास की 'विनय' प्रमुख हैं ।

भारतेन्दु युगीन कवि पूर्णतः रीतिकालीन परिपाटी को छोड़ नहीं पाये। फलतः उनमें रीति निरूपण और श्रृंगारिकता का मोह बराबर बना रहा । रीतिनिरूपणकार कवियों में लछिराम भट्ट, कविराजा मुरारिदान और बालगोविन्द मिश्र उल्लेखनीय हैं । इन कवियों ने अपने काव्यों में नायिका भेद, अलंकारशास्त्र तथा विविध काव्यांगों का वर्णन किया है । रीतिकालीन श्रृंगारी प्रवृत्ति तो भारतेन्दु युग के अनेक कवियों में दिखाई देती है। भारतेन्दु ने 'प्रेम सरोवर', 'प्रेम माधुरी', 'प्रेम तरंग', तथा 'प्रेम फुलवारी' नामक रचनाओं में भक्ति श्रृंगार और विशुद्ध श्रृंगार दोनों का समावेश किया है। प्रेमघन की 'युगल मंगल स्त्रोत' तथा 'वर्षा बिन्दु' भी इसी प्रकार की रचनाएँ हैं । ठाकुर जगमोहन सिंह का इस दिशा में उल्लेखनीय योगदान है । सौन्दर्य वर्णन के लिए इस युग के कवियों ने प्रकृति का भी सहारा लिया है । भारतेन्दु कृत 'बसंतहोली', अम्बिकादत्त व्यास कृत 'पावस पचासा' गोविन्द गिल्लाभाई कृत 'षड्ऋतु' और 'पावस पयोनिधि' नामक कृतियों में ऋतु –सौन्दर्य का आलम्बनात्मक चित्रण है । भारतेन्दु के अनेक नाटकों में भी प्रकृति का सुरम्य वर्णन है ।

हास्य व्यंग्य तो भारतेन्दु युगीन कविता का प्राण ही है । पश्चिमी सभ्यता, विदेशी शासन, सामाजिक अन्धविश्वासों, रूढ़ियों आदि पर इन कवियों ने करारे व्यंग्य किये हैं । भारतेन्दु का इनमें पहला स्थान है । उन्होंने अपने नाटकों तथा निबन्धों में जगह–जगह व्यंग्योक्तियों का प्रयोग किया है । सामाजिक तथा राजनीतिक विसंगतियों को लेकर भी उन्होंने कुछ व्यंग्योक्तियाँ मुकरियों के रूप में लिखी हैं ।

भारतेन्दु युग में काव्य की एक और परम्परा मिलती है, और वह है समस्यापूर्ति की । यह उस समय पर्याप्त लोकप्रिय थी । इससे कवियों की सूझ–बूझ, उक्तिवैचित्र्य तथा उनके आशु कवित्व का परिचय मिलता था। समस्यापूर्ति करने वालों में प्रेमघन, लछिराम, विजयानन्द त्रिपाठी, गोविन्द गिल्लाभाई, रामकृष्ण वर्मा, बेनीद्विज तथा ब्रजचन्द वल्लभीय विशेष

प्रसिद्ध थे । इस दिशा में अनेक संस्थाएँ भी स्थापित हुईं जिनमें काशी की 'कविता वर्द्धिनी सभा', कानपुर का 'रसिक समाज' तथा आजमगढ़ का 'कवि समाज' प्रमुख थे ।

इन सब के साथ ही इस युग में काव्यानुवादों की भी परम्परा रही । राजा लक्ष्मणसिंह ने रघुवंश तथा मेघदूत का संस्कृत से हिन्दी में काव्यानुवाद किया । भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी नारद भक्ति सूत्र तथा शांडिल्य भक्तिसूत्र का 'तदीय सर्वस्व' तथा 'भक्ति सूत्र वैजयन्ती' नाम से अनुवाद किया । अंग्रेजी ग्रन्थों के अनुवादकों में श्रीधर पाठक प्रमुख हैं । गोल्डस्मिथ कृत हरमिट और डेजर्टेड विलेज को उन्होंने 'एकान्तवासी योगी' तथा 'ऊजड़ग्राम' के नाम से अनूदित किया । काव्य की इन विविध धाराओं के कारण ही भारतेन्दु–युग हिन्दी काव्य जगत में अपनी एक विशिष्ट पहचान बना सका ।

भारतेन्दु युग के कवि और उनकी कविता

भारतेन्दु युग के शताधिक कवियों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, ठाकुर जगमोहन सिंह, अम्बिका दत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी तथा राधाकृष्ण दास अपना प्रमुख स्थान रखते हैं।

भारतेन्दु तो इस कवि समाज की धुरी ही थे । अपने 35 वर्ष के अल्पजीवन काल में ही उन्होंने लगभग सत्तर काव्य कृतियों का निर्माण किया । जिनमें 'भक्त सर्वस्व' 'प्रेममालिका' 'वैसाख माहात्म्य' 'फूलों का गुच्छा' 'जैन कौतूहल' 'प्रेम सरोवर' 'प्रेमाश्रु वर्षा' 'प्रेम फुलवारी' 'भक्तमाल उत्तरार्द्ध', 'प्रेम तरंग', 'प्रेम विलाप', 'गीत गोविन्दानन्द', 'सतसई सिंगार', 'होली' 'प्रेममाधुरी', 'वर्षाविनोद', 'विनय प्रेम पचासा', 'कृष्णचरित', 'कार्तिक स्नान' तथा 'रागसंग्रह' विशेष उल्लेखनीय हैं। इनका संकलन भारतेन्दु ग्रंथावली के प्रथम भाग में किया गया है । उनकी इन रचनाओं में काव्य की नूतन और पुरातन दोनों धाराओं का सम्मिश्रण है । उनकी भक्ति में धार्मिक संकीर्णता का विरोध तथा उनके श्रृंगार में नवीन कर्त्तव्य क्षेत्रों का निर्देश है। भारतेन्दु ने भक्ति श्रृंगार, राजनीति, देश प्रेम, समाज सुधार तथा प्रकृति आदि को लेकर कविता लिखी है । उनकी भक्ति सम्बन्धी रचनाओं पर सूर, तुलसी, मीरा तथा रसखान आदि का स्पष्ट प्रभाव है। उनका श्रृंगार रीतिकालीन परम्परा का अनुकरण होते हुए भी उससे भिन्न है। उसमें

आत्माभिव्यक्ति का नया प्रयास है । भारतेन्दु के राजनीतिक और सामाजिक सन्देश उनकी लोक गीतों के ढंग पर रची हुई कविताओं में मिलते हैं। ये कविताएं कहीं तो मुकरियों के रूप में हैं और कहीं लावनी, कजली, भजन, पद, गजल, रेखता तथा उर्दू के स्यापा के रूप में । हास्य और व्यंग्य तो भारतेन्दु की कविता का प्राण है । उन्होंने प्रायः अपनी सभी रचनाओं में इस शैली का प्रयोग किया है । उनकी कविता की भाषा ब्रजभाषा रही । खड़ी बोली में भी उन्होंने कुछ कविताएँ लिखने का प्रयास किया । अपनी ओजस्विता, सरलता, भाव मर्मज्ञता तथा प्रभविष्णुता के बल पर ही उन्होंने प्रायः अपने युग के सभी कवियों को प्रभावित किया ।

भारतेन्दु मंडल के दूसरे प्रमुख कवि बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन थे। देशदशा पर लिखने वालों में ये प्रमुख थे । तत्कालीन सामाजिक परिवेश तथा धार्मिक आन्दोलनों पर भी इन्होंने कविताएं लिखी हैं। 'जीर्ण जनपद', 'आनन्द अरुणोदय', 'हार्दिक हर्षादर्श', 'मयंक महिमा', 'अलौकिक लीला', 'वर्षा बिन्दु' आदि इनके प्रसिद्ध काव्य संग्रह हैं । तत्कालीन खड़ी बोली में निर्मित रचनाओं में इनके 'आनन्द अरुणोदय' का महत्वपूर्ण स्थान है। इनकी रचनाओं का संकलन 'प्रेमघन सर्वस्व' के प्रथम भाग में है । भारतेन्दु के काव्य में प्राप्त होने वाली सभी प्रवृत्तियाँ इनकी भी रचनाओं में मिलती हैं। प्रेमघन में प्राचीनता की अपेक्षा नवीनता का आवेश अधिक है। देश की दुरवस्था के कारणों तथा देशोन्नति के उपायों का जितना वर्णन इन्होंने किया है उतना किसी अन्य कवि ने नहीं । कविता की भाषा मुख्यतः ब्रज ही रही, किन्तु खड़ी बोली से इन्हें कोई परहेज न था । कविता में भाषा शुद्धि की अपेक्षा इन्होंने भावों को अधिक महत्व दिया है।

कवि व्यक्तित्व की अनेक विचित्रताओं के कारण प्रतापनारायण मिश्र भारतेन्दु युग में अधिक चर्चित रहे । हास्य व्यंग्यात्मक कविताओं के क्षेत्र में उनका अग्रणी स्थान है । स्वदेशी और स्वदेश के प्रति उनका अपार प्रेम रहा। देश की निर्धनता को उन्होंने बहुत निकट से देखा था। तभी तो लिखा है–

बहुतेरे जन द्वार–द्वार मंगन बनि डोलहिं ।
तनिक नाज हित दीन बचन जेहि तेहि ते बोलहिं ।
x x x x x x x
पेट अधम अनगिनतिन अकरम करम करावत ।
दारिद दुरगुन पुंज अमित दुःख हिम उपजावत।

'प्रेम पुष्पावली', 'मन की लहर', 'लोकोक्तिशतक, 'तृप्यन्ताम' और ' श्रृंगार विलास' प्रतापनारायण मिश्र की श्रेष्ठ रचनाएँ हैं । इनकी कविताओं का एक महत्वपूर्ण संकलन 'प्रताप लहरी' नाम से प्रकाशित है । भारतेन्दु की तरह इनकी कविता के भी विविध आयाम हैं । पर भक्ति और प्रेम की तुलना में इन्होंने समसामयिक विषयों पर अधिक रचनाएँ की हैं । इनकी भाषा पर अवधी की गहरी छाप है ।

मध्यप्रदेश स्थित विजयराघवगढ़ स्टेट के राजकुमार ठाकुर जगमोहन सिंह भी भारतेन्दु युगीन कवियों में प्रमुख रहे । स्वच्छंद श्रृंगार और प्रकृति–वर्णन इनकी कविता की प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं । आचार्य शुक्ल के अनुसार – "प्राचीन संस्कृत काव्यों के प्राकृतिक वर्णनों का संस्कार मन में लिए हुए, अपनी प्रेमचर्या की मधुर स्मृति से समन्वित विन्ध्यप्रदेश के रमणीय स्थलों को जिस सच्चे अनुराग की दृष्टि से उन्होंने देखा है, वह ध्यान देने योग्य है।" इनकी रचनाओं में 'श्यामालता', 'श्यामासरोजनी', 'श्यामाविनय' एवं 'देवयानी' स्वच्छन्द प्रेम का प्रतिनिधित्व करने वाली हैं तथा 'सज्जनाष्टक' और 'सम्पत्तिपचासा' प्राचीन काव्य परिपाटी का । कविताओं का मुख्य विषय या तो तात्कालिक समस्याएँ हैं या पौराणिक इतिवृत्त। 'ऋतु संहार' तथा 'मेघदूत' उनके द्वारा अनूदित ब्रजभाषा की सरस कृतियाँ हैं । कलापक्ष की दृष्टि से इनकी रचनाएँ भारतेन्दु युगीन कवियों में सबसे सशक्त हैं ।

अम्बिकादत्त व्यास का स्थान भी भारतेन्दु युगीन कवियों में मुख्य है। अपनी प्रखर मेधाशक्ति के बल पर इन्होंने भारतेन्दु युगीन कवियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया था । 12 वर्ष की अवस्था से ही ये कविता लिखने लगे थे । संस्कृत तथा हिन्दी दोनों भाषाओं पर इनका समान अधिकार था। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने स्वयं इन्हें सुकवि की उपाधि प्रदान की थी । इनकी हिन्दी की प्रमुख काव्यकृतियाँ इस प्रकार हैं – 'पावस पचासा', 'सुकवि सतसई', श्रीकृष्ण की बाल लीला पर 700 दोहे, 'आनन्द मञ्जरी', 'गणेश शतक', 'बिहारी बिहार', 'ताशकौतुक पचीसी', 'समस्यापूर्तिसर्वस्व', 'महाताश कौतुक पचासा', 'रसीली कजरी', 'हो हो होरी', 'झूलन झमक', तथा 'सहस्रनाम रामायण'। 'बिहारी बिहार' इनकी प्रसिद्ध रचना है जिसमें बिहारी के दोहों का कुण्डलिया छन्द में भाव विस्तार है। व्यासजी की भारतीय संस्कृति के प्रति गहन आस्था रही है। इसे हम इनकी रचनाओं के माध्यम से जान सकते हैं ।

भारतेन्दु के फुफेरे भाई राधाकृष्णदास भी उच्चकोटि के कवि थे । भारतेन्दु से प्रेरणा प्राप्त कर ही उन्होंने कविता लिखना शुरू किया । उनकी कविता में भक्ति, श्रृंगार तथा समकालीन सामाजिक–राजनीतिक चेतना को विशेष स्थान प्राप्त है । इनकी कविताओं का संकलन 'राधाकृष्ण दास ग्रन्थावली' में हुआ है ।

भारतेन्दु युग के अन्य कवियों में रामकृष्ण वर्मा 'बलबीर', लाला सीताराम, बालमुकुन्दगुप्त, नवनीत चतुर्वेदी, गोविन्द गिल्लाभाई, दिवाकर भट्ट, राजा राजेश्वरी प्रसाद सिंह 'प्यारे', राव कृष्ण, देवशरण सिंह'गोप', बेनी द्विज,हनुमान, ब्रजचन्द बल्लभीय, नकछेदी त्रिपाठी तथा दुर्गादत्त व्यास का नाम उल्लेखनीय है ।

भारतेन्दु युग का गद्य साहित्य

हिन्दी में गद्य साहित्य का आविर्भाव तो पहले ही हो चुका था पर इसका वास्तविक विकास भारतेन्दु युग में ही हुआ । इस युग में आकर गद्य साहित्य की विविध विधाओं के विकास का ऐतिहासिक कार्य हुआ । भारतेन्दु युगीन गद्य साहित्य कई रूपों में मिलता है, जिनमें नाटक, उपन्यास, निबन्ध, कहानी तथा आलोचना प्रमुख हैं ।

नाटक

हिन्दी नाटक का आरम्भ भारतेन्दु युग से ही होता है । यद्यपि इससे पूर्व भी नाटक लिखे गए पर उनमें नाट्यगुणों का सर्वथा अभाव है । भारतेन्दु अपने युग के सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं। अनूदित तथा मौलिक कुल मिलाकर इन्होंने सत्रह नाटकों की रचना की है। इनके मौलिक नाटकों में 'सत्यहरिश्चन्द्र', 'वैदिकी हिंसा–हिंसा न भवति', 'नीलदेवी', 'चन्द्रावली', 'अंधेर नगरी', 'सती प्रताप', 'प्रेम जोगिनी' तथा 'भारत दुर्दशा' का महत्वपूर्ण स्थान है । विषय की दृष्टि से भारतेन्दु के नाटक पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा राष्ट्रीय हैं जिनमें सर्वत्र प्रेम की व्याप्ति है। उनका यह प्रेम कहीं मानवीय प्रेम के रूप में तो कहीं ईश्वरीय प्रेम या देश प्रेम के रूप में उजागर हुआ है। युगीन परिस्थितियों का स्वर भी भारतेन्दु के नाटकों में सर्वत्र मिलता है। उनके नाटकों में उनका युग भली भाँति प्रतिबिम्बित हुआ है । भारतेन्दु के अतिरिक्त उस युग के अन्य मौलिक नाटककार हैं– लाला श्रीनिवासदास, राधाकृष्ण दास, किशोरीलाल गोस्वामी,

प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, अम्बिकादत्त व्यास, कार्तिकप्रसाद खत्री, अयोध्यासिंह उपाध्याय और बालकृष्ण भट्ट ।

लाला श्रीनिवास दास के चार नाटक हैं – 'रणधीर और प्रेममोहिनी', 'तप्तासंवरण', 'संयोगिता स्वयंवर' तथा 'प्रह्लाद चरित्र' । इनमें से रणधीर और प्रेममोहिनी का कथानक तो काल्पनिक है शेष तीनों नाटकों का पौराणिक एवं ऐतिहासिक । नवीन शैली में लिखे गये ये नाटक युगीन समस्याओं का ज्वलंत चित्र प्रस्तुत करते हैं । इनमें भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाट्य पद्धतियों का सम्मिश्रण है ।

राधाकृष्णदास ने 'दुःखिनीबाला', 'महारानी पद्मावती', 'धर्मालाप' तथा 'महाराणाप्रताप' नामक नाटक लिखे । 'दुःखिनीबाला' सामाजिक नाटक है जिसमें सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार है। 'महारानी पद्मावती' ऐतिहासिक रूपक है। 'धर्मालाप' की रचना वार्तालाप शैली में हुई है जिसमें लेखक ने पारस्परिक भेदभाव मिटाकर लोगों को धार्मिक एकता बनाये रखने का उपदेश दिया है। महाराणा प्रताप में उदयपुर के महाराणा प्रतापसिंह की वीरता का वर्णन है। अपने इन नाटकों में राधाकृष्णदास ने भारतीय नाट्यरीतियों का सम्यक् निर्वाह नहीं किया है।

किशोरीलाल गोस्वामी कृत 'मयंकमंजरी' महानाटक भी अपने युग की महत्वपूर्ण रचना है जिसमें राजकुमार वीरेन्द्रसिंह और मयंकमंजरी के प्रेम का वर्णन है । इस प्रेम कथा के माध्यम से लेखक ने सामाजिक सुधार, एकता, नारी स्वतंत्रता आदि पर बल दिया है । 'प्रणयिनी परिणय' भी इनका इसी तरह का दूसरा नाटक है । 'चौपट चपेट' नाम का इन्होंने एक प्रहसन भी लिखा ।

प्रतापनारायण मिश्र ने सामाजिक समस्याओं को लेकर अनेक नाटक लिखे जिसमें से 'भारत दुर्दशा' और 'कलि कौतुक रूप' को विशेष ख्याति मिली । 'भारत दुर्दशा' भारतेन्दु के इसी नाम के नाटक की शैली पर लिखा गया रूपक है जिसमें देश दशा का चित्रण किया गया है। 'कलि कौतुक रूप' में सामाजिक बुराइयों को दर्शाया गया है और साथ ही उनसे बचे रहने का भी संकेत किया गया है ।

राधाचरण गोस्वामी की गणना भारतेन्दुयुग के प्रतिभा शाली नाटककारों में की जाती है । 'सुदामा', 'सती चन्द्रावली,' 'अमरसिंह राठौर' इनके बड़े

नाटक तथा 'बूढ़े मुंह मुहासे लोग देखें तमाशे', 'तन मन धन गोसाईं जी के अर्पन' प्रहसन हैं । अपने प्रहसनों के कारण गोस्वामी जी को विशेष ख्याति मिली। इन प्रहसनों के द्वारा इन्होंने वर्ग संघर्ष की समस्याओं को उठाते हुए समाज सुधार की चेष्टा की है ।

अम्बिकादत्त व्यास को नाटकों के क्षेत्र में ले आने का श्रेय भारतेन्दु को है। उन्हीं के कहने से इन्होंने 'गोसंकट' नाटक लिखा । ब्रजभाषा में 'ललिता' नाम की इन्होंने एक छोटी नाटिका भी लिखी । समाज सुधार की भावना इनके भी नाटकों में मुखर है ।

कार्तिक प्रसाद खत्री के दो नाटक मिलते हैं जिनमें 'उषाहरण' तो पूर्ण है किन्तु 'रेल का विकट खेल' अपूर्ण है। अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'रुक्मिणी परिणय' तथा 'प्रद्युम्न विजय' नामक दो महत्वपूर्ण नाटकों की रचना की है।

पं0 बालकृष्ण भट्ट ने जीवंत समस्याओं पर 'नई रोशनी का विष', 'जैसा काम वैसा परिणाम' तथा 'आचार विडम्बन' नामक नाटक लिखे । बालविवाह पर इन्होंने 'बालविवाह' नामक नाटक लिखा। पौराणिक कथानकों पर भी इन्होंने कुछ नाटकों की रचना की है।

भारतेन्दु युगीन हिन्दी नाट्यसाहित्य को विकसित करने में बाबू खड्ग बहादुर मल्ल, काशीनाथ खत्री, बाबू तोता राम तथा बदरी नारायण चौधरी प्रेमघन का भी महत्वपूर्ण स्थान है ।

उपन्यास

भारतेन्दु युग अनूदित उपन्यासों के लिए याद किया जाएगा । मौलिक उपन्यासों की रचना इस युग में कम हो सकी । इस युग में लेखकों को उपन्यास रचना की प्रेरणा बंगला तथा अंग्रेजी के उपन्यासों से प्राप्त हुई। भारतेन्दु युगीन उपन्यास साहित्य वस्तुतः तत्कालीन सामाजिक चेतना का प्रतिफल है । प्रायः इस युग के सभी उपन्यासों में सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति ही मुखर हुई है । इस युग के प्रमुख उपन्यासकार हैं – लाला श्रीनिवास दास, किशोरीलाल गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, ठाकुर जगमोहन सिंह, राधाकृष्णदास, लज्जाराम शर्मा, देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी ।

भारतेन्दुयुग का पहला मौलिक उपन्यास, 'भाग्यवती' है जिसे श्रद्धाराम

फिल्लौरी ने 1877 ई0 में लिखा । यह एक लघु सामाजिक उपन्यास है ।

दूसरे उपन्यासकार लाला श्रीनिवासदास हैं जिनके उपन्यास 'परीक्षागुरु' को उस समय बड़ी ख्याति मिली । अंग्रेजी ढंग का यह पहला मौलिक उपन्यास है । इसकी कथा एक अमीर के बिगड़ने और अपने एक मित्र की सहायता से सुधरने को लेकर रची गई है। वस्तुतः यह एक शिक्षाप्रद उपन्यास है जिसमें जगह–जगह उपदेशात्मक उद्धरणों की भरमार सी है ।

किशोरीलाल गोस्वामी भारतेन्दुयुग के सर्वप्रधान उपन्यास लेखक माने गये हैं । इनके उपन्यासों में मानवीय प्रेम के विविध पक्षों का उद्‌घाटन मिलता है । 'त्रिवेणी वा सौभाग्य श्रेणी', 'प्रणयिनी परिणय', 'स्वर्गीय कुसुम', 'उदयहारिणी' तथा 'लवंगलता' इनके श्रेष्ठ सामाजिक उपन्यास हैं।

बालकृष्ण भट्‌ट के उपन्यासों में 'रहस्यकथा', 'नूतन ब्रह्मचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' प्रमुख हैं । हास्य व्यंग्य का पुट प्रायः इनके सभी उपन्यासों में पाया जाता है ।

भारतेन्दु युग के रोमानी उपन्यासकारों में ठाकुर जगमोहन सिंह मुख्य हैं। इनके रोमानी उपन्यास 'श्यामा स्वप्न' की उस युग में बड़ी चर्चा रही। वस्तुतः इस उपन्यास में ठाकुर साहब ने ग्राम्य जीवन एवं प्राकृतिक परिवेश की अद्‌भुत झाँकी प्रस्तुत की है ।

सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार करने वाले उपन्यासकारों में राधाकृष्णदास जी उल्लेखनीय हैं । इनके उपन्यास 'निःसहाय हिन्दू' में यथार्थवाद का गहरा रंग है । वस्तु चित्रण की दृष्टि से प्रस्तुत उपन्यास भारतेन्दुयुग में बेजोड़ है ।

लज्जाराम शर्मा के दो उपन्यास इस युग में विशेष प्रसिद्ध हुए – 'धूर्त रसिक लाल' तथा 'स्वतंत्र रमा और परतंत्र लक्ष्मी' । इसमें लेखक ने सामाजिक कुरीतियों का विरोध करते हुए आदर्श परिवार एवं समाज की रचना का संदेश दिया है ।

देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी दोनों भारतेन्दुयुग के तिलस्मी, ऐयारी उपन्यासकार हैं । देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता सन्तति', 'नरेन्द्र मोहिनी', 'वीरेन्द्रवीर' और 'कुसुमकुमारी' तथा गोपालराम गहमरी के 'अद्‌भुत लाश' और 'गुप्तचर' नामक उन्यासों ने उन दिनों काफी धूम मचायी । गोपाल राम गहमरी ने दो सौ के लगभग जासूसी

उपन्यास लिखे, लेकिन वे भारतेन्दुयुग की सीमा के बाहर हैं ।

अनूदित उपन्यासों की संख्या भी इस युग में बहुत अधिक है । सर्वाधिक अनुवाद बंगला भाषा के उपन्यासों के हुए । इसका कारण भी रहा । तत्कालीन बंगला उपन्यासों में राष्ट्रीय जागरण का आलोक था जिसे हिन्दी साहित्य में दर्शाना आवश्यक था । अंग्रेजी के किसी गम्भीर उपन्यास का अनुवाद इस युग में नहीं हुआ ।

निबन्ध

हिन्दी निबन्ध भारतेन्दुयुग की मौलिक देन है । कविता और नाटक की अपेक्षा निबन्ध रचना की दृष्टि से यह युग अधिक सफल रहा । विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं के विकास से इस विधा को विशेष प्रोत्साहन मिला । इस युग के प्रायः सभी निबन्धकार किसी न किसी पत्रिका से अवश्य जुड़े रहे। बहुतों ने तो स्वयं ही पत्रिकाएँ निकालीं । भारतेन्दु ने 'हरिश्चन्द्र मैगजीन' प्रताप नारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण', बालकृष्णभट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप', बदरीनारायण चौधरी ने 'आनन्द कादम्बिनी', श्रीनिवास दास ने 'सदादर्श' और राधाचरण गोस्वामी ने 'भारतेन्दु' का सम्पादन किया । इन पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से भारतेन्दु व उनके सहयोगी निबन्धकारों ने जन सामान्य की समस्याओं को उठाया । इसके साथ ही राष्ट्रीय – सांस्कृतिक एकता को ध्यान में रखते हुए राजनीति, समाजसुधार, धर्म, अध्यात्म, आर्थिक दुर्दशा तथा अतीत के गौरव पर भी विचार व्यक्त किये । इस युग के निबन्धकारों में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्णभट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन, लाला श्रीनिवास दास, ठाकुर जगमोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी तथा काशीनाथ खत्री का महत्वपूर्ण स्थान है ।

भारतेन्दु ने पुरातत्व, इतिहास, धर्म, कला, समाजसुधार, जीवनी, यात्रा, भाषा, साहित्य आदि अनेक विषयों पर निबन्ध लिखे हैं । इन निबन्धों में उनकी व्यंग्य भावना के स्पष्ट निदर्शन होते हैं । निबन्धों की शैली अधिकांशतः भावात्मक है।

बालकृष्ण भट्ट तो इस युग के सर्वश्रेष्ठ निबन्धकार हैं । सामयिक समस्याओं पर जितने अच्छे निबन्ध इन्होंने लिखे हैं उतने किसी अन्य ने नहीं। 'भट्ट निबन्धावली' तथा 'भट्ट निबन्धमाला' इनके महत्वपूर्ण निबन्धों के संकलन हैं ।

प्रतापनारायण मिश्र ने भी देश की दुर्दशा का चित्र खींचने वाले अनेक महत्वपूर्ण निबन्धों की रचना की । वैसे इनके निबन्धों का विषय असीम है। इनके विचारात्मक निबन्ध बहुत अच्छे बन पड़े हैं ।

प्रेमघन के निबन्धों में आत्मव्यंजना की प्रधानता है । प्रकृति के प्रेमी इस निबन्धकार ने अपनी भाषा को अलंकारमय और काव्यमय बना दिया ।

लाला श्रीनिवास दास, ठाकुर जगमोहन सिंह, अम्बिकादत्त व्यास, राधाचरण गोस्वामी तथा काशीनाथ खत्री के निबन्ध भी सामयिक समस्याओं को उजागर करने वाले हैं । इन सभी ने अपने निबन्धों द्वारा भारतेन्दु युग को समृद्ध बनाया ।

कहानी

भारतेन्दु युग में इस तरह की कहानियाँ नहीं लिखी गईं जैसी कि आज लिखी जा रही हैं । इस युग की कहानियाँ, कहानियाँ कम कथात्मक निबन्ध ज्यादा हैं । इस युग में कहानियों के नाम पर केवल चार प्रकाशित संग्रह मिलते हैं – मुंशी नवल किशोर द्वारा सम्पादित 'मनोहर कहानी', अम्बिका दत्त व्यास कृत 'कथा कुसुम कलिका', राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द कृत 'वामा मनोरंजन' तथा चण्डीप्रसाद सिंह कृत 'हास्य रतन' । इनमें पौराणिक, ऐतिहासिक तथा लोक प्रचलित, शिक्षा, नीति तथा हास्य से सम्बन्धित कथाएँ हैं जिन्हें उपर्युक्त लेखकों ने या तो स्वयं लिखकर अथवा दूसरे से लिखवा कर प्रकाशित करवाया है । राधा चरण गोस्वामी कृत 'यमलोक की यात्रा' और भारतेन्दुकृत 'एक अद्‌भूत अपूर्व स्वप्न' तथा 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' निबन्ध होते हुए भी कहानी की कोटि में आते हैं ।

आलोचना

साहित्य की अन्य विधाओं की तरह हिन्दी आलोचना का विकास भी भारतेन्दु युग से हुआ । भारतेन्दु युग की आलोचना चार रूपों में मिलती है। इसमें पहला रूप है पुस्तक समीक्षा का । इसका सूत्रपात बदरीनारायण चौधरी प्रेमघन ने किया । उन्होंने लाला श्रीनिवास दास कृत 'संयोगिता स्वयंवर' और गदाधर सिंह कृत 'बंगविजेता' की विस्तृत आलोचना 'आनंद कादम्बिनी' में प्रकाशित कराई । इसके बाद बालकृष्ण भट्‌ट और बालमुकुन्द गुप्त ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया । दूसरा रूप काव्य शास्त्रीय आलोचना

का है जिसके अन्तर्गत लक्षण ग्रंथों का निर्माण हुआ । भारतेन्दु लिखित 'नाटक' काव्यशास्त्रीय आलोचना का महत्वपूर्ण ग्रंथ है । तीसरा रूप टीकाओं का है जो ब्रजभाषा गद्य में लिखी गईं । 'बिहारी सतसई' की टीका इस युग में विशेष प्रसिद्ध हुई । आलोचना का चौथा रूप इतिहास ग्रन्थों के रूप में मिलता है । आलोच्य युग में दो इतिहास ग्रन्थ लिखे गए – जार्ज ग्रियर्सन कृत 'द माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान' तथा शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' । इनमें हिन्दी के विभिन्न कवियों की प्रशंसात्मक आलोचना की गई है ।

आलोचना के अतिरिक्त कुछ अन्य साहित्य विधाएँ भी भारतेन्दु युग में मिलती हैं । इनमें जीवनी और यात्रावृत्त विशेष उल्लेखनीय हैं । जीवनियाँ तो भारतेन्दु ने खूब लिखीं । इस युग के अन्य जीवनी लेखक हैं– कार्तिक प्रसाद खत्री, काशीनाथ खत्री, राधाकृष्णदास तथा मुंशी देवी प्रसाद। भारतेन्दु द्वारा अनेक यात्रावृत्त भी लिखे गए जिनमें 'सरयूपार की यात्रा, 'लखनऊ की यात्रा' तथा 'हरिद्वार की यात्रा' प्रमुख हैं । बालकृष्ण भट्ट तथा प्रतापनारायण मिश्र ने भी अनेक यात्रावृत्त लिखे हैं ।

भारतेन्दु युग की उपलब्धियाँ

साहित्य सर्जना की दृष्टि से भारतेन्दु युग अपने में पूर्णतः समृद्ध है। आधुनिक साहित्य की प्रायः सभी विधाओं का विकास इस युग में मिलता है । गद्य साहित्य का प्रथम उत्थान होते हुए भी यह भाषा की दृष्टि से पूर्ण विकसित है । हिन्दी खड़ी बोली का इस युग में पूर्ण संस्कार हुआ । गद्य की तरह पद्य में भी इसका खुलकर प्रयोग होने लगा । कविता इस युग में नई चाल में ढली । सामान्य जनजीवन और उसकी समस्याओं से उसका सीधा सम्पर्क हुआ । कवियों ने धार्मिक आडम्बरों पर करारी चोट की तथा देश की दुर्दशा पर आंसू बहाये । शिल्प के क्षेत्र में भी नये प्रयोग हुए । लोकधुनों और लोकगीतों तथा नवीन छन्दों का खुलकर प्रयोग किया गया। नाटकों के विकास से रंगमंच का निर्माण हुआ । निबन्धों द्वारा युगीन समस्याओं का चित्रण हुआ । कथा साहित्य ने लोगों में पढ़ने–पढ़ाने की रूचि उत्पन्न की । इस प्रकार साहित्य का सर्वांगीण विकास हुआ । पत्र पत्रिकाओं ने हिन्दी के व्यापक प्रचार–प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया । सब मिलाकर भारतेन्दु युग व्यापक जन जागरण का काल रहा जिससे हिन्दी भाषा और साहित्य की उन्नति के साथ ही देश की उन्नति हुई ।

10

भारतेन्दु के अनूदित नाटक : मौलिकता और उद्देश्य

आधुनिक हिन्दी नाट्य–साहित्य के विकास में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का महत्त्वपूर्ण योगदान है । यदि इन्हें आधुनिक हिन्दी नाटक का जन्मदाता कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी । भारतेन्दु से पूर्व जितने भी हिन्दी नाटक लिखे गए, उनमें से अधिकांश पद्य में थे और उनमें नाटकीय गुणों का सर्वथा अभाव था । जो थोड़े बहुत नाटक मिश्रित गद्य–पद्य में लिखे गये थे उनकी भाषा अत्यन्त लचर थी । इस दृष्टि से भारतेन्दु ने अनेक मौलिक तथा अनूदित नाटकों का सृजन कर इस क्षेत्र में एक अभिनव प्रयोग किया । अपने नाटकों में उन्होंने नाटकीय गुणों का ही प्रयोग नहीं किया बल्कि रंगमंच को भी ध्यान में रखा । इसके साथ ही साथ भारतेन्दु की एक मौलिक देन यह भी है कि उन्होंने अपने कई नाटकों में अभिनय किया और इस तरह जन सामान्य में नाटक के प्रति रुचि उत्पन्न की । हिन्दी नाटक को साहित्यिक स्वरूप और गरिमा प्रदान करने में भी भारतेन्दु का महत्त्वपूर्ण योगदान है ।

भारतेन्दु ने हिन्दी नाटक को समृद्ध करने के लिए बहुत से मौलिक नाटकों का सृजन किया । इसके साथ ही उन्होंने संस्कृत, बंगला आदि भाषाओं में लिखे गए कई महत्त्वपूर्ण नाटकों का अनुवाद भी किया । भारतेन्दु द्वारा रचित मौलिक तथा अनूदित नाटकों की संख्या 17 मानी जाती है । इनके नाम हैं – 1–रत्नावली, 2– विद्यासुन्दर, 3–पाखंड विडम्बन, 4–वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, 5–धनंजय विजय, 6– मुद्राराक्षस, 7– सत्य हरिश्चन्द्र, 8– प्रेम जोगिनी, 9– विषस्य विषमौषधम्, 10– कर्पूर मंजरी, 11– चन्द्रावली, 12–भारत दुर्दशा, 13– भारत जननी, 14– नीलदेवी, 15– दुर्लभ बन्धु, 16– अंधेर नगरी, 17– सती प्रताप । भारतेन्दु द्वारा रचित कुछ अन्य नाटक भी बताये जाते हैं जो आज अनुपलब्ध हैं । इनके नाम हैं – 'प्रवास', 'मृच्छकटिक', 'नवमल्लिका', 'माधुरी' तथा 'जैसा काम वैसा परिणाम'। 'माधुरी' को कुछ लोग भारतेन्दु के मित्र राव कृष्णदेव सिंह की रचना बताते हैं ।

भारतेन्दु द्वारा रचित नाटकों में से चन्द्रावली, नीलदेवी, भारत दुर्दशा, भारत जननी, अंधेर नगरी, वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, विषस्य विषमौषधम्, प्रेम जोगिनी तथा सती प्रताप उनके मौलिक नाटक हैं । विद्या सुन्दर तथा सत्य हरिश्चन्द्र छायानुवाद हैं जो मौलिक से बन पड़े हैं ।

भारतेन्दु के अनूदित नाटक हैं – रत्नावली, पाखंड–विडम्बन, धनंजय विजय, मुद्रा राक्षस, कर्पूर मञ्जरी तथा दुर्लभ बन्धु । यद्यपि ये सभी नाटक बंगला तथा संस्कृत आदि भाषाओं में लिखे गए नाटकों के अनुवाद हैं पर अनूदित होते हुए भी इनमें से कई नाटक ऐसे हैं जो भाव और शिल्प की दृष्टि से उनके कई मौलिक नाटकों से श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं । इनमें स्थान–स्थान पर भारतेन्दु जी ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है । मौलिकता के साथ – साथ इन नाटकों के अनुवाद का कुछ उद्देश्य भी रहा है । इसे हम इन नाटकों के विश्लेषण द्वारा स्पष्ट रूप से देख सकते हैं –

1. रत्नावली - यह भारतेन्दु का प्रथम अनूदित नाटक है । इसका अनुवाद 1868 ई0 में श्रीहर्ष की रत्नावली नाटिका से किया गया । इस अनुवाद के पीछे भारतेन्दु का यह तर्क है – "शकुन्तला के सिवाय और सब नाटकों में रत्नावली नाटिका बहुत अच्छी और पढ़ने वालों को आनन्द देने वाली है, इस हेतु से मैंने पहले इसी नाटक का तर्जुमा किया है"।[1]

इस अनुवाद में उन्होंने बहुत परिश्रम किया था । उन्हीं के शब्दों में– "इसके मूल संस्कृत में जहाँ छन्द थे, वहाँ मैंने भी छन्द किये हैं । यदि संस्कृत के छन्दों से उसके छन्दों को मिला के पढ़िये तो इसका परिश्रम प्रगट होगा।"[2] इतना होने पर भी उन्हें लगता है कि अनुवाद बहुत अच्छा नहीं बन पड़ा होगा और वे कह उठते हैं – "और निश्चय है कि इसका 'उल्था' अगर कोई अच्छी हिन्दी जानने वाला करता तो रचना अति उत्तम होती । इससे मुझे आप लोगों से आशा है कि इसके भूल–चूक को सुधारेंगे और मुझे अपने एक दास की नाईं स्मरण करेंगे।"[3]

दुर्भाग्य है कि आज इस नाटिका का नांदी, प्रस्तावना और विष्कंभक भाग ही प्राप्त है । शेष भाग या तो लिखा ही नहीं गया या लुप्त हो गया। इसमें मूल के नांदी श्लोकों का अनुवाद गद्य में हुआ है । इसके आगे पद्य का पद्य में अनुवाद है । अनुवाद अत्यन्त सफल और सरस है । इस नाटिका के अनुवाद के द्वारा भारतेन्दु जी नाटक–प्रेमी जनों के संम्मुख

शास्त्रीय दृष्टि से एक सफल नाटिका का उदाहरण प्रस्तुत करना चाहते थे। इसी को आधार बनाकर आगे चलकर उन्होंने 'चन्द्रावली' की रचना की।

2. **पाखंड विडम्बन** - भारतेन्दु का यह नाटक कवि कृष्ण मिश्र रचित 'प्रबोध चन्द्रोदय' के तीसरे अंक का अनुवाद है । यह अनुवाद सन् 1872 ई0 में किया गया । यह प्रतीक नाटक है । इसमें श्रद्धा और शांति की कथा का वर्णन है । शांति, सखी करुणा के साथ अपनी मां श्रद्धा की खोज में निकलती है । इस खोज में उसे तामसिक और राजसिक श्रद्धा के दर्शन होते हैं जिन्हें देखकर वह आश्चर्य चकित हो जाती है । तब क्षपणक द्वारा उसे पता चलता है कि असली (सात्विक) श्रद्धा तो विष्णु भक्ति के पास सकुशल निवास कर रही है । शांति और करुणा यह शुभ समाचार पाकर प्रसन्न होती हैं।

वस्तुतः यह नाटक तत्कालीन धार्मिक प्रवृत्तियों की विरूपता का सुन्दर चित्र प्रस्तुत करता है । यही विरूपताएँ भारतेन्दु के समय में भी विद्यमान थीं । कदाचित् इसी कारण इसका अनुवाद भी किया गया । भारतेन्दु का यह अनुवाद अत्यन्त सरस और सुन्दर है ।

इसमें साधारणतः गद्य का अनुवाद खड़ी बोली में तथा पद्य का ब्रजभाषा पद्य में हुआ है । इसमें मूल नाटक के पात्रों के नामों तथा उनकी भाषा में परिवर्तन कर दिया गया है । जैन मुनि क्षपणक को भारतेन्दु ने दिगम्बर नाम दिया है और उससे मारवाड़ी भाषा का प्रयोग करवाया है । इसी तरह बौद्ध भिक्षुक की भाषा को बच्चों की तुतलाती बोली का रूप दिया गया है । जिन स्थलों पर इस बोली को समझने में कठिनाई उत्पन्न होने का अंदेशा था वहाँ इसका हिन्दी रूपान्तर ही दे दिया गया है । अपने नाटकों में पात्रानुकूल भाषा का प्रयोग करना भारतेन्दु की मौलिकता है । इसका पालन उन्होंने अपने अनूदित नाटकों में भी किया है ।

भारतेन्दु ने पाखंड विडम्बन के अनुवाद में गीतों का भी प्रयोग किया है । उनके ये गीत अभीष्ट कथा को स्पष्ट करने वाले तथा कथा को गति प्रदान करने वाले हैं ।

3. **धनंजय विजय** - यह संस्कृत कवि कांचन के 'धनन्जय विजय' व्यायोग का अनुवाद है । यह अनुवाद 1873 ई0 में किया गया । इसमें एक

दिन के युद्ध का वर्णन है । पांडवों ने अपने अज्ञातवास का एक वर्ष राजा विराट के यहाँ रह कर बिताया । अज्ञातवास के अन्तिम दिन कौरवों ने राजा विराट की गायों का हरण कर लिया । अर्जुन विराट की ओर से लड़ने जाते हैं और गायों को छुड़ाकर ले आते हैं । इससे प्रसन्न होकर विराट अर्जुन पुत्र अभिमन्यु से अपनी पुत्री उत्तरा का विवाह कर देते हैं । यहीं कथा समाप्त हो जाती है ।

प्रस्तुत नाटक, नाट्यशास्त्र के लक्षणों का उत्तम उदाहरण है। व्यायोग के जितने भी लक्षण होते हैं वे सभी इस नाटक में मिलते हैं। भारतेन्दु ने अपने अनुवाद में भी इन लक्षणों का सफल निर्वाह किया है। इस अनुवाद के द्वारा वे संभवतः रूपक के भेदों से लोगों को परिचित कराना चाहते थे।

अनुवाद सफल और सरस है । भारतेन्दु ने इसमें जगह–जगह अपनी मौलिकता का परिचय दिया है । उदाहरण स्वरूप भरतवाक्य के "राजवर्ग मद छाँड़ि निपुन विद्या में होई" छन्द को देखा जा सकता है । अनुवाद की भाषा सजीव और ओजस्विनी है । भारतेन्दु ने इस अनुवाद में गीतों का भी प्रयोग किया है जिससे नाटक की अभिनेयता उभरकर सामने आ गई है । कुल मिलाकर यह अनुवाद इतना सुन्दर और सजीव है कि मौलिक सा प्रतीत होता है ।

4. मुद्राराक्षस - यह महाकवि विशाखदत्त कृत संस्कृत नाटक 'मुद्राराक्षस' का अनुवाद है । भारतेन्दु ने यह अनुवाद 1875 ई0 में किया । यह 1875 ई0 से 1877 ई0 तक 'बालाबोधिनी' पत्रिका में क्रमशः छपता रहा । बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ । इसके अनुवाद की प्रेरणा उन्हें राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने दी थी । यह अनुवाद उन्हीं को समर्पित भी है। राजा साहब के सहयोग से इसे पाठ्यक्रम में भी स्थान मिला जिससे इसकी लोकप्रियता अत्यन्त बढ़ गई । संभवतः यह हिन्दी का अकेला राजनीतिक नाटक है । डा0 गोपीनाथ तिवारी के शब्दों में – "सम्भवतः इसकी अद्वितीयता या एकाकीपन ने ही भारतेन्दु जी को आकर्षित किया एवं उन्होंने इस नाट्यकृति का अनुवाद कर डाला । इस ऐतिहासिक नाटक के अनुवाद द्वारा भारतेन्दु जी ने एक नवीन शैली की स्थापना की जिसका अनुगमन बाद में प्रसाद जी ने किया है । यह शैली है, नाटक की ऐतिहासिकता पर प्रकाश डालना । भारतेन्दु जी ने नाटक के आरम्भ में पूर्वकथा के रूप में

चाणक्य, महानन्द एवं राक्षस की कथा पर विचार किया है एवं नाटक के अन्त में अर्थात् उपसंहार में ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में खोजपूर्ण सामग्री दी है।"[4]

नाटक की कथावस्तु इस प्रकार है । चाणक्य अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर चन्द्रगुप्त को गद्दी पर बैठा देता है । अब वह राक्षस को चन्द्रगुप्त का मन्त्री बनाने के लिए षड्यंत्र रचता है। अपनी कूटनीति से वह राक्षस की मुद्रा प्राप्त कर लेता है और अपने गुप्तचरों को राक्षस और मलयकेतु के यहाँ रख देता हैं। ये गुप्तचर राक्षस और मलयकेतु में द्वेष भाव उत्पन्न कर देते हैं । चाणक्य, राक्षस के मित्रों चन्दनदास, शकटदास आदि को कैद कर लेता है। इस प्रकार अपनी कूटनीति से वह राक्षस और मलयकेतु में कलह उत्पन्न कर अन्त में राक्षस को चन्द्रगुप्त का मन्त्री बना देता है ।

सम्पूर्ण कथा सात अंकों में विभाजित है । इसमें नाटकीय गुणों का पूर्णतः पालन किया गया है । अनुवाद होते हुए भी भाषा आदि की दृष्टि से यह भारतेन्दु की सर्वोत्कृष्ट मौलिक रचनाओं के समकक्ष ठहरता है। इसमें कहीं–कहीं तो अनुवाद मूल से अधिक सुन्दर बन पड़ा है । दो उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

1. मूल — राक्षस का कथन–

कर्णोचैव विषांगनैक पुरुष व्यापादिनी रक्षिता ।
हन्तुं शक्ति रिवार्ज्जुन बलवती या चन्द्रगुप्तं मया ।
सा विष्णोरिव विष्णुगुप्तहतकस्यात्यन्तिक श्रेयसे ।
हैडिम्बेयमित्येव पर्वतनृप तद्बध्यमेवावधीत् ।

अनुवाद —

जो विषमयी नृप चन्द्रवध हित नारी राखी लाय कै ।
तासों हत्यो पर्वत उलटि चाणक्य बुद्धि उपाय कै ।
जिमि करन शक्ति अमोघ अर्जुन हेतु धरी छिपाय कै।
पै कृष्ण के मत सो घटोत्कच पै परी घहराय कै ।।

2. मूल —

इहि हि रचयन् साध्वीं शिष्यः क्रिया न निवार्यते ।
त्यजति तु यदा मार्गमोहात् तदा गुरू रड.कुशः।
विनय रूचयस्तस्मात् सन्तः सदैव निरंकुशाः ।
परतरमतः स्वातंत्र्येभ्यो वयं हि पराड.मुखः।।

अनुवाद —

जब लौं बिगारै काज नहिं तब लौं न गुरु कछु तेहि कहै ।

पै शिष्य जाइ कुराह तौ गुरु सीस अंकुश है रहै ।
तासों सदा गुरु वाक्य वश हम नित्य पर आधीन हैं ।
निर्लोभ गुरु से सन्तजन ही जगत में स्वाधीन हैं ।

अनुवाद करने में भारतेन्दु ने सरलता, भाषा की प्रवृत्ति, सुबोधता, प्रवाह, स्पष्टता आदि को बराबर ध्यान में रक्खा है । कहीं–कहीं तो लोकोक्तियों और मुहावरों का भी प्रयोग कर दिया है । मूल नाटक में पात्रों की भाषा में अन्तर है पर अनुवाद में नाटककार ने एक ही भाषा का प्रयोग किया है । निश्चित ही इस अनुवाद में भारतेन्दु ने बहुत परिश्रम किया था। तभी अनुवाद होते हुए भी इसमें मौलिक का सा आनन्द मिलता है ।

5. कर्पूर मंजरी - यह राजशेखर कवि द्वारा प्राकृत भाषा में रचित 'कर्पूर मंजरी' नामक सट्टक का अनुवाद है । इसका अनुवाद 1876 ई0 में किया गया । इसकी कथा इस प्रकार है – सिद्ध भैरवानन्द राजा चण्डपाल के विदूषक के कहने पर चमत्कार दिखाता है और विदर्भदेश के राजा वल्लभराज की पुत्री कर्पूर मंजरी को अपने योगबल से राज दरबार में बुला लेता है । कर्पूर मंजरी की सुन्दरता देखकर राजा उस पर आसक्त हो जाता है। कर्पूरमंजरी भी राजा पर आसक्त हो जाती है। राजा चण्डपाल की रानी कर्पूर मंजरी की हत्या करने का अनेक बार प्रयत्न करती है पर हर बार राजा उसे बचा लेता है । हारकर वह राजा का विवाह राजा चंद्र सेन की कन्या धनमंजरी से कराना चाहती है । किन्तु भैरवानन्द के चमत्कार से धनमंजरी ही रूप मंजरी हो जाती है। अन्त में राजा और कर्पूरमंजरी का विवाह हो जाता है ।

प्राकृत से अनुवाद करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है, तब भी भारतेन्दु ने इसका अनुवाद किया । इसमें गद्य का गद्य में और पद्य का पद्य में अनुवाद हुआ है । अनुवाद अत्यन्त सफल और सरस है । इसमें अनेक जगह मौलिकता के दर्शन होते हैं । इसका नान्दीपाठ भारतेन्दु का मौलिक पद है। अनुवाद करने में अनुवादक ने बहुत से स्थलों पर अपनी ओर से कुछ घटाया – बढ़ाया है । दुर्बोध और घोर श्रृंगारिक स्थलों का अनुवाद छोड़ दिया है या उनका वर्ण्य विषय बदल दिया है । उदाहरण स्वरूप 2–45 और 3–6 छन्द प्रस्तुत किए जा सकते है । 1–27 छन्द को श्रृंगारिकता कम करने के लिए बदल दिया गया है । भारतेन्दु ने विदूषक और भैरवानन्द के कथनों का बहुत बढ़ा–चढ़ाकर वर्णन किया है। इससे अनुवाद में

कहीं–कहीं काल दोष आ गया है । जैसे विदूषक के कथन में पद्माकर का उल्लेख। पद्माकर, राजशेखर के कई सौ वर्ष बाद उत्पन्न हुए थे । इसी तरह कामदेव के पाँच वाणों में फुहारे और खसखाने का उल्लेख जो मुगलिया विलास के द्योतक हैं । नाटक के दूसरे अंक में विदूषक झूला झूलती स्त्रियों का वर्णन करते हुए पद्माकर और देव के छन्दों का पाठ करता है। कहने का अर्थ यह कि इस अनुवाद में भारतेन्दु ने काफी स्वतन्त्रता का परिचय दिया है । इससे अनुवाद कहीं–कहीं तो अतिसुन्दर बन गया है, पर कहीं–कहीं बिगड़ भी गया है ।

भारतेन्दु ने इस सट्टक का अनुवाद क्यों किया है, इस पर विचार करते हुए डॉ0 गोपीनाथ तिवारी ने इसके पीछे चार कारण माना है, 1 – हिन्दी में सट्टक का उदाहरण प्रस्तुत करना था । 2 – श्रृंगार रस से यह ओत-- प्रोत है । भारतेन्दु जी की प्रेमी प्रवृत्ति के उपयुक्त नाटक है । फिर हास्य रस भी इसमें पर्याप्त है। 3– यह प्राकृत भाषा में है। संस्कृत के अनेक अनुवाद ब्रजभाषा काल में हो चुके थे और उस समय भी हो रहे थे किन्तु प्राकृत से किसी ने भी अनुवाद नहीं किया था । 4. भारतेन्दु जी को नाटिका नामक रूपक भेद प्रिय था । रत्नावली नाटिका का उन्होंने अनुवाद किया। सट्टक भी इस प्रकार की नाटिका ही है । इसीलिए उन्होंने "चन्द्रावली" नाटिका लिखी थी और अपूर्ण "प्रेमजोगिनी" को भी वे नाटिका बनाने जा रहे थे।" [5]

6. **दुर्लभ बन्धु** - यह शेक्सपियर के प्रसिद्ध अंग्रेजी नाटक 'मर्चेन्ट आफ वेनिस' का भावानुवाद है। यह अनुवाद 1880 ई0 में हुआ। 1887 में 'हरिश्चन्द्र चन्द्रिका' और 'मोहन चन्द्रिका' में इसके कुछ अंश छपने शुरू हुए थे। अनुमान है कि भारतेन्दु ने इसके कुछ अंश का ही अनुवाद किया था। बाद में पं0 रामशंकर व्यास और बाबू राधाकृष्णदास ने इसे पूरा किया। डा0 रामरतन भटनागर के अनुसार–"इस अनुवाद में बालेश्वर प्रसाद के 'वेनिस का सौदागर' और बंगला के 'सुरलता' से बड़ी सहायता ली गई थी"। [6]

इस नाटक के अनुवाद में भारतेन्दु ने पर्याप्त मौलिकता का परिचय दिया है। पात्रों, स्थानों आदि के नामों में परिवर्तन तो है ही, संवादों में भी आवश्यकतानुसार परिवर्तन कर दिया गया है। इस नाटक में भारतेन्दु ने पात्रों के नामों का हिन्दीकरण किया है। जैसे– ऐन्टोनिया का अनन्त,

सैलेरियो का सरल, सोलेनियो का सलोने, बैसेनियो का बसंत, लोरैंजो का लवंग, ग्रैशिमनो का गिरीश, शाइलाक का शैलाक्ष, गोवों का गोप, लियोनार्डो का लोरी, पोर्शिया का पुरश्री, नैरिसा का नरश्री तथा जैसिका का जसोदा आदि। स्थानों के नामों का भी हिन्दीकरण किया गया है। जैसे—वेनिस का वंशपुर, बैलमेट का बिल्वमठ तथा मोरैक्को का मोरकुटी आदि। कहीं—कहीं स्थान—नामों का परिवर्तन भी है। जैसे – पैलेटाइन का नेपाल तथा स्काटलैण्ड का अंगदेश आदि।

भारतेन्दु ने अपने इस अनूदित नाटक में भारतीय पुराण—कथाओं तथा मुहावरों का भी काफी प्रयोग किया है। पुरश्री का यह कथन द्रष्टव्य है—"तुम निश्चय जानो कि यदि मुझे मार्कण्डेय की आयु मिले तो भी मैं अम्बालिका की तरह कुँवारी मर जाऊंगी पर अपने पूज्य पिता की इच्छा के विरुद्ध कभी विवाह नहीं करुँगी।"

पर मौलिकता के कारण कहीं—कहीं विसंगतियाँ भी उत्पन्न हो गई हैं। अनुवाद में अनंत के जहाज भारत के नगर वंशपुर से त्रिपुल, हिन्दुस्तान, भौक्षिक और अंगदेश को जाते हैं। वंशपुर तो हिन्दुस्तान का ही नगर है। फिर जहाज, हिन्दुस्तान कहाँ जाएँगे। इसी तरह अनेक उद्धरणों तथा नामों के अनुवाद भी हास्यास्पद हो गए हैं। भारतेन्दु ने जैनियों के चरित्र को दूषित बताया जो नितान्त गलत है। हो सकता है भारतेन्दु ने इन अंशों का अनुवाद न किया हो। या अनुवाद किया हो तो उसे संशोधित न कर पाए हों।

भारतेन्दु ने इस नाटक को अनुवाद के लिए क्यों चुना, उसके पीछे कई कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि इसके माध्यम से पाश्चात्य नाट्यशैली का उदाहरण सामने रखना चाहते थे। दूसरे, इसमें मित्रता के उच्च आदर्श का चित्रण किया गया है। संभव है इस आदर्श ने उन्हें प्रभावित किया हो। तीसरे, यह अंग्रेजी भाषा का सुप्रसिद्ध नाटक है। भारतेन्दु अंग्रेजी भाषा के भी कुछ नाटकों का अनुवाद करना चाह रहे थे। यह इस दिशा में किया जाने वाला उनका सराहनीय प्रयास कहा जायेगा।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारतेन्दु जी विभिन्न भाषाओं के नाटकों के अनुवाद द्वारा हिन्दी नाट्य—साहित्य को समृद्ध करना चाहते थे। दूसरे, इन नाटकों के माध्यम से वे युगीन जन—मानस में नई चेतना का

संचार करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने ऐसे नाटकों को अनुवाद के लिए चुना जिनमें किसी न किसी रूप में यह चेतना विद्यमान थी। यदि मूल नाटक में यह चेतना कहीं हल्के रूप में थी तो इसके लिए उन्होंने अनुवाद में अपनी ओर से परिवर्तन किया।

भारतेन्दु जी अविकल अनुवाद के पक्षपाती नहीं थे। इसीलिए उन्होंने अपने अनूदित नाटकों में बहुत से परिवर्तन किए। ये परिवर्तन कहीं तो अच्छे बन पड़े हैं, कहीं पर खराब। भारतेन्दु भाषा के प्रति बड़े संवेदनशील हैं। इसीलिए पात्रों के मुख से उन्होंने तरह–तरह की भाषाओं का प्रयोग करवाया है। यहाँ तक कि बच्चों की तोतली बोली को भी वे नहीं छोड़ सके हैं। भाषा में लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग करना इनकी अपनी अलग विशेषता है। इससे अनुवाद की भाषा में सजीवता आ गई है। भारतेन्दु की इस मौलिकता से नाटकों के मूल प्रभाव में किसी प्रकार की कमी नहीं आने पायी है, बल्कि वे कथा के साथ घुल–मिलकर उनके अंग बन गए हैं।

भारतेन्दु के अधिकांश नाटकों का अनुवाद, सरल, सुन्दर और सफल है। उसमें हमें मूल का सा ही आनन्द मिलता है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भारतेन्दु जी एक सफल नाटककार के साथ–साथ कुशल अनूदित नाटककार भी हैं।

संदर्भ

1. 'रत्नावली' की भूमिका
2. 'रत्नावली' की भूमिका
3. 'रत्नावली' की भूमिका
4. भारतेन्दु के नाटकों का शास्त्रीय अनुशीलन, डा0 गोपीनाथ तिवारी, पृ0–113
5. भारतेन्दु के नाटकों का शास्त्रीय अनुशीलन, डा0 गोपीनाथ तिवारी, पृ0–204
6. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र –डा0 राम रतन भटनागर पृ0–101
7. दुर्लभ बंधु–प्रथम अंक–दूसरा दृश्य

11

नवजागरण, आर्य समाज और हिन्दी साहित्य

ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के बाद नवीन परिस्थितियों के कारण देश में नयी चेतना का जन्म हुआ। परिणाम–स्वरूप आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक, वैज्ञानिक, आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में असाधारण जागृति आयी। इसी को भारतीय नवजागरण (Indian Renaissance) की संज्ञा दी जाती है। इस नवजागरण के उन्नयन में जिन महापुरूषों ने अपना योगदान दिया उनमें राजा राम मोहन राय, देवेन्द्रनाथ ठाकुर, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, केशव चन्द्र सेन, महर्षि दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, जोतिबा फुले, दादा भाई नौरोजी तथा श्रीमती एनी बेसेंट का महत्वपूर्ण स्थान है।

राजाराम मोहन राय को भारतीय नवजागरण का पुरोधा माना जाता है। उन्होंने देश के सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक और राजनीतिक पुनरुत्थान के लिए जीवन भर संघर्ष किया। देश की सामाजिक दशा सुधारने के लिए ही उन्होंने सन् 1828 ई0 में 'बह्म समाज' की स्थापना की। इसके माध्यम से उन्होंने युवकों को अपनी ओर आकर्षित कर धार्मिक और सामाजिक कुरीतियों के खिलाफ एक जोरदार संघर्ष चलाया। राष्ट्र निर्माण के प्रायः हर पहलू को राजा साहब ने अपनाया। उनके इस कार्य में प्रसन्न कुमार टैगोर, चन्द्र शेखर देव, ताराचन्द्र चक्रवर्ती, अलेक्जेण्डर डफ और हेयर आदि ने विशेष सहयोग दिया।

उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक के अन्तिम वर्षों में हेनरी विवियन डेरोजिओ ने 'यंग बंगाल' आन्दोलन चलाया, पर अत्यधिक प्रगतिशील विचार धारा के कारण तत्कालीन समाज में लोगों ने इसे अधिक स्वीकार नहीं किया।

राजा राम मोहन राय के बाद 'ब्रह्म समाज' को नया जीवन प्रदान करने का कार्य देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने किया। इन्होंने भी जाति–प्रथा, वर्ण भेद, बहु विवाह आदि का विरोध किया तथा प्रजा की दशा में सुधार और आत्म–संयम के आन्दोलन का समर्थन किया।

भारतीय नवजागरण को युगानुरूप गतिशीलता प्रदान क़रने में

ईश्वरचंद्र विद्यासागर की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। भारतीयता के विकास के लिए इन्होंने भारतीय और पाश्चात्य संस्कृति के संयोग का समर्थन किया। विधवा पुनर्विवाह तथा नारी शिक्षा के क्षेत्र में इनका अविस्मरणीय योगदान है।

देवेन्द्रनाथ ठाकुर के बाद ब्रह्म समाज के उन्नायकों में केशव चन्द्र सेन का प्रमुख स्थान है। राजा साहब की तरह इन्होंने भी मूर्ति पूजा तथा जाति–पाँति के बन्धनों की कटु आलोचना की और अन्तर्जातीय विवाह का समर्थन किया। इनके ही प्रयास से सन् 1867 में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना हुई।

'प्रार्थना समाज' के उन्नायकों में डा0 आत्माराम पाण्डुरंग, रामकृष्ण गोपाल भंडारकर तथा महादेव गोविन्द रानाडे मुख्य थे। इन्होंने धार्मिक कुरीतियों के विरुद्ध संघर्ष चलाया। इसके साथ ही भारतीय संस्कृति को नवीन वैज्ञानिक विचार प्रणाली के अनुरूप ढालने का प्रयत्न भी किया। तेलुगू सुधारक वीरेशलिंगम के प्रयासों के परिणाम स्वरूप 'प्रार्थना समाज' की गतिविधियाँ दक्षिण भारत में भी फैलीं।

नवजागरण को अपनी आध्यात्मिक अनुभूति और साधना से गति प्रदान करने वालों में रामकृष्ण परमहंस का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने इस बात पर बार–बार जोर दिया है कि ईश्वर और मुक्ति तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं, और मानव सेवा ही ईश्वर की सेवा है, क्योंकि मानव जाति के प्रति उनके मन में अपार करुणा थी। उन्होंने सभी धर्मों के मूलतत्व को अपने जीवन में साकार किया।

रामकृष्ण परमहंस के योग्य शिष्य विवेकानन्द ने अपने गुरू के धार्मिक सन्देश को लोकप्रिय बनाया तथा उसे ऐसे रूप में प्रस्तुत करने की कोशिश की जो समसामयिक समाज की आवश्यकताओं के अनुकूल हो। विवेकानन्द ने सर्वाधिक जोर सामाजिक कर्म पर दिया। इसके लिए उन्होंने 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। अपने गुरु की तरह उन्होंने भी 'सर्व धर्म समभाव' की घोषणा की। उनका मानना था कि विचार और कर्म की स्वतंत्रता जीवन, विकास और कल्याण की एक मात्र शर्त है, जहाँ उसका अभाव होता है, वहां मनुष्य, जाति और राष्ट्र अवश्य अवनति की ओर जाता है।

आधुनिक भारत की गतिविधियों में 'थियोसोफिकल सोसायटी' की भी भूमिका रही है। भारत में इसे प्रचारित–प्रसारित करने का श्रेय श्रीमती एनीबेसेंट को है। थियोसोफिकल सोसायटी ने हिन्दू धर्म, पारसी धर्म तथा बौद्ध धर्म जैसे प्राचीन धर्मों को पुनरुज्जीवित करने तथा मजबूत बनाने की बात की। उन्होंने आत्मा के पुनर्जन्म सिद्धान्त को माना। उन्होंने मानव के व्यापक बंधुत्व की भी शिक्षा दी। थियोसोफी आन्दोलन का नेतृत्व पश्चिम के निवासियों ने किया और इन्होंने भारतीय धर्मों तथा इसकी दार्शनिक परम्परा का गुणगान किया। परिणामतः हमें अपना आत्मविश्वास प्राप्त करने में कुछ हद तक सहायता मिली।

नवजागरण की चेतना मुसलमानों के बीच भी आयी पर कुछ देर से। कलकत्ता में 1863 ई0 में 'मुहम्मदन लिटरेरी सोसायटी' की स्थापना इस दिशा में एक शुरूआत थी। इस सोसायटी ने आधुनिक विचारों की रोशनी में धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नों पर विचार–विमर्श को बढ़ावा दिया तथा उच्च और मध्यवर्गीय मुसलमानों को पाश्चात्य शिक्षा अपनाने के लिए प्रोत्साहित किया।

मुसलमानों के बीच सबसे महत्वपूर्ण सुधारक सैयद अहमद खाँ हुए जिन्होंने समसामयिक बुद्धिवाद और विज्ञान के प्रकाश में कुरआन की व्याख्या की। उन्होंने मुसलमानों से आग्रह किया कि वे आलोचनात्मक दृष्टिकोण और चिन्तन की स्वतन्त्रता अपनाएँ। दिमाग की खिड़कियों और दरवाजों को बन्द रखना सामाजिक तथा बौद्धिक पिछड़ेपन की निशानी है। उनका मानना था कि धार्मिक जीवन में केवल आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक ज्ञान और संस्कृति को ग्रहण कर ही सुधार लाया जा सकता है। इसलिए उन्होंने जीवन भर आधुनिक शिक्षा को ही बढ़ावा दिया। पाश्चात्य विज्ञान और संस्कृति के केन्द्र के रूप में उन्होंने 'मुहम्मदन एंग्लो ओरियन्टल कालेज' की स्थापना की जो बाद में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ।

पारसियों में भी सुधारवादी आन्दोलन की भावना देखने को मिलती है। पारसी धर्म व समाज की रक्षा एवं कुरीतियों के सुधार के लिए 1851 में शिक्षित पारसियों ने 'रहनुमाए मजदायस्नान' नामक सभा की स्थापना की। इसका उद्देश्य पारसी समाज को पुनरुज्जीवित करना तथा पारसी धर्म को पुरानी पवित्रता की ओर लौटाना था। इसके नेताओं में दादा भाई

नौरोजी, जे0 बी0 वाचा आदि थे। 'रास्त गुफ्तार' पत्र द्वारा इन्होंने पारसी समाज में सुधारवादी आन्दोलन चलाया।

उत्तर भारत में नवजागरण का सूत्रपात महर्षि दयानन्द सरस्वती ने किया। उनके द्वारा आर्य समाज का आन्दोलन उन्नीसवीं शताब्दी का सबसे महत्वपूर्ण आन्दोलन माना जाता है। 1901 ई0 में भारतीय जनगणना के अध्यक्ष श्री रिसले ने आर्य समाज को उन्नीसवीं शताब्दी का मुख्यतम् सुधार आन्दोलन कहा है। 1911 ई0 की संयुक्त प्रान्त की जनगणना में भी इसे पिछली शताब्दी का सबसे बड़ा सुधार आन्दोलन कहा गया है। अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए स्वामी जी ने सन् 1867 में मुम्बई में 'आर्य समाज' की स्थापना की।

महर्षि दयानन्द सरस्वती असाधारण प्रतिभा के धनी थे। उनका व्यक्तित्व अतिशय दृढ़ और असमझौतावादी था। उन्होंने भारतीय जीवन के धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, शैक्षणिक आदि सभी विषयों पर नए ढंग से विचार किया। स्वामीजी ने वैदिक धर्म को ही सच्चा धर्म माना। उनके अनुसार वेद अपौरूषेय हैं इसलिए स्वतः प्रमाण हैं। वैदिक धर्म में समय–समय पर अनेक विध विकृतियाँ आती रही हैं जिनके निराकरण का प्रयत्न भी किया जाता रहा है। वैदिक धर्म के सत्य स्वरूप को लोगों के सामने लाने के लिए ही उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना की।

स्वामीजी ने मूर्ति पूजा और अवतारवाद व बहुदेववाद का विरोध किया। उनके अनुसार ईश्वर एक है जो विश्व की सर्वोच्च सत्ता है। उसका कोई आकार नहीं होता अतः उसकी मूर्ति नहीं बनाई जा सकती। ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम ओऽम् है। इन्द्र, मित्र, वरूण, अग्नि, वायु आदि जो बहुत से नाम वेदों में आते हैं वे सब एक ही ईश्वर के विभिन्न नाम हैं। स्वामी जी के अनुसार वेदों में सम्पूर्ण ज्ञान–विज्ञान बीज रूप में विद्यमान है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती राष्ट्रीय स्वाधीनता के प्रबल पक्षधर थे। भारत पर जिस प्रकार विदेशी शासन स्थापित था, उससे उन्हें पीड़ा होती थी। उन्होंने लिखा है – 'अब अभाग्योदय से और आर्यों के आलस्य, प्रमाद, परस्पर के विरोध से अन्य देशों के राज्य करने की तो कथा ही क्या कहनी, किन्तु आर्यावर्त में भी आर्यों का अखन्ड, स्वतन्त्र, स्वाधीन, निर्भय राज्य इस समय नहीं है। जो कुछ है सो भी विदेशियों के पादाक्रान्त हो रहा है। कुछ

थोड़े राजा स्वतन्त्र हैं। दुर्दिन जब आता है, तब देशवासियों को अनेक प्रकार का दुख भोगना पड़ता है। कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है। अथवा मतमतान्तर के आग्रहरहित, अपने और पराए का पक्षपात शून्य, प्रजा पर पिता–माता के समान कृपा, न्याय और दया के साथ विदेशियों का राज्य भी पूर्ण सुखदायक नहीं है।' (सत्यार्थ प्रकाश, अष्टम समुल्लास, पृ0–214)

स्वामी जी ने स्वदेशी पर भी बहुत बल दिया। उनका मानना था कि हमारा जो अपना है हम उसे ही अपनायें और गौरव का अनुभव करें। अंग्रेजों के स्वदेश प्रेम के लिए उन्होंने उनकी प्रशंसा भी की।

स्वामी जी ने सामाजिक बुराइयों को दूर करने की दिशा में भी महत्वपूर्ण कार्य किया। उनके आर्य समाज में जाति–पाँति, ऊँच–नीच तथा छुआछूत आदि के लिए कोई स्थान न था। उन्होंने शूद्रों और स्त्रियों को भी वेद पढ़ने का अधिकार दिया।

स्वामी जी ने अपने ग्रंथों में शिक्षा को बहुत अधिक महत्व दिया है। उनके मतानुसार किसी भी देश की उन्नति तब तक सम्भव नहीं है, जब तक उस देश के लोग शिक्षित न हों। स्वामी जी ने प्राचीन गुरूकुल शिक्षा प्रणाली को अपना आदर्श माना। स्त्रियों की शिक्षा की बात सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द ने ही उठायी। उनका मत था कि स्त्रियों को सिर्फ शिक्षित ही नहीं होना चाहिए बल्कि देश की रक्षा, न्याय, युद्ध एवं शासन में भी उन्हें पुरूषों के समान कार्य करना चाहिए। स्वामी जी ने व्याकरण, धर्म, चिकित्सा शास्त्र गणित और शिल्पविद्या आदि की शिक्षा को स्त्रियों के लिए उपयोगी बताया।

आज प्राथमिक शिक्षा को अनिवार्य बनाने की बात की जाती है, पर महर्षि दयानन्द ने बहुत पहले गुरूकुल शिक्षा प्रणाली के माध्यम से इसकी बात उठायी थी। उनके अनुसार – 'इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पाँचवें अथवा आठवें वर्ष से आगे कोई अपने लड़के और लड़कियों को घर में न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो।' (सत्यार्थ प्रकाश, तृतीय समुल्लास, पृ0–30)

स्वामी जी ने प्राचीन शास्त्रों के साथ ज्ञान–विज्ञान के अध्ययन की आवश्यकता पर भी बल दिया। यही कारण है कि उनकी गुरूकुल शिक्षा

प्रणाली में ज्ञान–विज्ञान और शिल्पकला आदि के सभी विषयों की पढ़ाई होती है। स्वामी जी जीवन में ब्रह्मचर्य को बहुत महत्व देते थे। इसी कारण उन्होंने बालक–बालिकाओं या स्त्री–पुरूषों की सहशिक्षा का विरोध किया। वे शिक्षा को तपस्यामय जीवन मानते थे।

महर्षि दयानन्द द्वारा प्रवर्तित आर्य समाज और गुरूकुल शिक्षा प्रणाली का भारत वर्ष के जन–जीवन में नई चेतना जागृत करने में महत्वपूर्ण स्थान रहा है। महर्षि के अनुयायियों ने आर्य समाज को देश–विदेश तक फैला दिया।

आर्य समाज और उसकी विचारधारा का हिन्दी साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा है। महर्षि दयानन्द ने बहुत पहले ही हिन्दी के महत्व को अनुभव किया था। यही कारण है कि गुजराती भाषा भाषी होते हुए भी उन्होंने अपना सारा लेखन हिन्दी में किया है। हिन्दी की समुन्नति और संवर्द्धन के लिए किए गए उनके प्रयासों को भुलाया नहीं जा सकता।

'पिछली शताब्दी में स्वामी दयानन्द सम्भवतः पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी के महत्त्व को अनुभव किया और उसका अपने उपदेशों तथा ग्रन्थों द्वारा व्यापक रूप से प्रचार किया। देश के विभिन्न भागों में भ्रमण करते हुए उन्होंने यह अनुभव किया कि हिन्दी सर्वत्र समझी जाने वाली भाषा है और अपने विचारों के प्रचार का सर्वोत्तम साधन है। अतः इसे उन्होंने प्रत्येक आर्य समाजी के लिए पढ़ना आवश्यक बना दिया और यह भी घोषणा की कि हिन्दी ही आर्य भाषा है और कन्याकुमारी से पेशावर तक बोली और व्यवहार की जाने वाली समस्त देश की राष्ट्रभाषा है। आर्य समाज का समस्त साहित्य हिन्दी में प्रकाशित होना चाहिए और हिन्दी को इसके प्रचार का प्रमुख माध्यम बनाना चाहिए।'(आर्य समाज का इतिहास, भाग–5, प्रधान सम्पादक–डा0 सत्यकेतु विद्यालंकार पृ0–525)

इसका परिणाम यह हुआ कि आर्य समाज के प्रचार –प्रसार के साथ–साथ हिन्दी का भी प्रचार–प्रसार हुआ।

हिन्दी गद्य पर स्वामी जी का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। हिन्दी में गम्भीर, दार्शनिक, आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि विविध विषयों पर लेखन–विवेचन का क्रम आरम्भ हुआ। इसका श्रीगणेश स्वामी जी ने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' से किया था। उनकी पवित्रतावादी विचार धारा ने हिन्दी काव्य को रीति कालीन शृंगारी प्रभाव से मुक्त किया। इसका

उदाहरण हमें द्विवेदी युगीन कविता में व्यापक रूप में मिलता है। हिन्दी गद्य के परिष्कार में भी स्वामी जी की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। उनकी भाषा से हिन्दी में एक नयी भाषा–शैली का प्रतिपादन हुआ। स्वामी जी ने ही सर्वप्रथम वैदिक तथा संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों को हिन्दी में उपलब्ध कराया। उनके इस कार्य से जनता में हिन्दी का व्यापक रूप से प्रचार हुआ और उनमें अपने धर्म–ग्रन्थों को मूल रूप में पढ़ने और समझने की सामर्थ्य उत्पन्न हुई।

भारतेन्दु युग नवजागरण का युग है। इस युग के रचनाकारों में नवजागरण की चेतना का स्वर मुखरित हुआ है। इस युग में अनेक ऐसे आर्य समाजी कवि, नाटककार व लेखक हुए जिनकी रचनाओं ने देश में नवयुग के सूत्रपात में अत्यधिक सहायता पहुँचायी। साथ ही ऐसे रचनाकारों की संख्या भी काफी है जो आर्य समाजी तो नहीं थे पर उनकी रचनाओं पर आर्य समाज का प्रभाव पड़ा है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र महर्षि दयानन्द के समकालीन थे। यद्यपि दोनों की धार्मिक विचारधारा में काफी अन्तर था पर दोनों के सामाजिक दृष्टिकोण एक थे। महर्षि दयानन्द की तरह भारतेन्दु ने भी धर्म तथा समाज के क्षेत्र में फैली रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों का खुलकर विरोध किया है। स्पृश्यास्पृश्य की भावना को भारतेन्दु ने स्वामी जी की ही भाँति समाज के लिए अनुपयोगी और हानिकारक माना है। 'तदीय सर्वस्व' में वे लिखते हैं–'धर्म हमारा ऐसा निर्बल और पतला हो गया है कि केवल स्पर्श से वा एक चुल्लू पानी से मर जाता है। कच्चे, गले, सड़े सूत व चींटी की दशा हमारे धर्म की हो गयी है।' (भारतेन्दु समग्र, सम्पादक–हेमंत शर्मा, पृ0–877-78)

स्वामी जी के प्रति भारतेन्दु की सहानुभूति मिश्रित भावना थी। इसका पता हमें उनके व्यंग्यात्मक निबन्ध 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' से लगता है।

भारतेन्दु के सहयोगी पं0 प्रताप नारायण मिश्र का लेखन स्वामी दयानन्द की विचार धारा से पूर्णतया प्रभावित था। उन्होंने दयानन्द के प्रति प्रशंसा मूलक उद्‌गार व्यक्त करते हुए लिखा था–'परमेश्वर ने बड़ी दया की कि स्वामी दयानन्द को उत्पन्न कर दिया, जिनके वचन रूपी वरूणास्त्रों से क्रिस्तान की भयानक अग्नि बहुत कुछ शान्त हो गयी। (आर्य समाज का इतिहास, भाग 5, पृ0–348)

मिश्र जी ने अपनी एक कविता में इस बात पर अफसोस जाहिर किया है कि लोग वेश्या के नृत्य को देखकर तो रूपयों की बौछार कर देते हैं पर वेद भाष्य के लिए चन्दे की अपील का नाम सुनकर बेचैन हो जाते हैं।

मरत–मरत दयानन्द मरिगे हिन्दू रहे आज लगि सोय।
पूत बियाहैं पाँच बरस कौ गहनें धरत फिरैं घरबार।
रूपय्रा फैंके जल्लादन पर घर भर दिये पतुरिया क्यार।
वेद मंगैबे के चन्दा के सुनतै नाम सूखि जिउ जाय।।

(आर्य समाज का इतिहास, भाग 5, पृ0–349)

पं0 राधा चरण गोस्वामी भी महर्षि दयानन्द की उदात्त विचार धारा से अत्यधिक प्रभावित थे। इन्होंने दयानन्द के ग्रन्थों का अध्ययन किया और उनसे कई बार बातचीत भी की। 'मित्र विलास' नामक पत्र में जब स्वामी जी के विरोध में लेख छपे तो राधाचरण गोस्वामी ने उनका मुँहतोड़ उत्तर दिया। गोस्वामी जी अपने 'भारतेन्दु' नामक पत्र में स्वामी जी के सम्बन्ध में यदा–कदा प्रशंसापूर्ण लेख लिखते रहते थे।

'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक, निबन्धकार पं0 बालकृष्ण भट्ट भी आर्य समाज की प्रगतिशील विचारधारा तथा युगसापेक्ष्य नीतियों के प्रशंसक थे। अपने पत्र में उन्होंने स्वामी जी के निधन पर भावपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित की थी।

द्विवेदी युग के कवियों पर भी आर्य समाजी विचारधारा का व्यापक प्रभाव पड़ा है। पं0 नाथूराम शर्मा शंकर की गणना इस युग के कट्टर आर्यसमाजी कवियों में की जाती है। 'गर्भरंडा रहस्य', 'अनुराग रत्न', 'शंकर सरोज', तथा 'शंकर सर्वस्व' इनके प्रसिद्ध काव्य संग्रह हैं। अपनी रचनाओं के माध्यम से शंकर जी ने आर्य समाज की विचारधारा का ही प्रचार–प्रसार किया।

आर्य समाजी कवियों में भजनीकों (भजनोपदेशकों) की परम्परा बड़ी पुरानी है। इनमें सबसे प्रसिद्ध हरियाणा के पं0 बस्तीराम हुए। इनके भजनों ने हरियाणा में आर्यसमाज की धूम मचा दी थी। इनकी रचनाओं में पाखन्ड–खण्डिनी, भजन मनोरंजन, मानस दीपिका, क्षत्रिय भजन संग्रह, महर्षि दयानन्द ज़ीवन कथा, असली अमृत गीता (दो भाग), अमृतकला,

बस्तीराम रहस्य, पोप की नाखर, गऊ भजन संग्रह तथा अद्यभर्षण प्रार्थना मुख्य हैं। इनके भजनों की जनमानस पर अमिट छाप पड़ी।

अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध' तथा मैथिलीशरण गुप्त आर्य समाज से प्रभावित द्विवेदी युग के मुख्य कवि हैं।

हरिऔध जी ने अपने 'प्रिय प्रवास' में कृष्ण का जो विशुद्ध मानवीय रूप प्रस्तुत किया है वह आर्य समाज के प्रभाव के ही कारण किया है। हरिऔध जी को स्वामी जी के मन्तव्यों पर बड़ा विश्वास था। उन्होंने अपनी 'दयानन्द गौरवगान'. नामक कविता में स्वामीजी द्वारा किए गए कार्यों का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

पिला उन्होंने दिया आत्म गौरव का प्याला,
बना उन्होंने दिया मान–ममता–मतवाला।
जी में भर जातीय भाव कर सजग जगाया,
देश प्रेम के महामंत्र से मुग्ध बनाया।।

(आर्य समाज का इतिहास, भाग 5, पृष्ठ–579)

मैथिलीशरण गुप्त जी भी आर्य समाज की विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित थे । उनकी 'भारत भारती' में आर्य समाज के विचारों का प्रभाव बड़ी मात्रा में दिखायी देता है। गुप्त जी की 'आर्य समाज' नामक कविता उनके आर्य समाज से प्रभावित होने का पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती है।

छायावाद के प्रमुख कवि सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला भी आर्य समाज से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने 'महर्षि दयानन्द और युगान्तर' नामक एक लेख में स्वामी जी के कार्यों का विषद मूल्यांकन किया है।

हालावादी कवि हरिवंशराय बच्चन भी आर्य समाज के सम्पर्क में आये। वे आर्य कुमार सभा के सदस्य भी रहे। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास' में उनकी कविता पर आर्य समाज के प्रभाव की बात स्वीकार की गयी है।

हिन्दी गद्य की विविध विधाओं पर भी आर्य समाज का प्रभाव पड़ा है। आर्य समाज से प्रभावित होने वाले उपन्यासकार हैं–प्रेमचन्द, चतुरसेन शास्त्री, सुदर्शन, इन्द्र विद्यावाचस्पति, डा0 सत्यकेतु विद्यालंकार, गुरुदत्त और यशपाल।

प्रेमचन्द जी 1902–1904 में गवर्नमेण्ट सेन्ट्रल ट्रेनिंग कालेज इलाहाबाद में अध्यापकी का प्रशिक्षण प्राप्त करने गए तो वहाँ अपने एक आर्य समाजी सहपाठी गंगा प्रसाद उपाध्याय (बाद में आर्य समाज के सुप्रसिद्ध नेता) से उनकी घनिष्ठ मैत्री हुई। इनके माध्यम से प्रेम चन्द जी आर्य समाज के सीधे सम्पर्क में आये। 1906 में उन्होंने आर्य समाजी परिवार की एक बाल विधवा शिवरानी देवी से विवाह किया। उनके पुत्र अमृत राय के शब्दों में– 'आर्य समाज में उनकी पूरी दिलचस्पी थी। जलसों में तो जाते ही रहते थे, शायद वह आर्य समाज के बाजाब्ता सदस्य भी थे।'

(आर्य समाज का इंतिहास, भाग. 5, पृष्ठ–546)

सन् 1912 में आर्य समाज के प्रसिद्ध विद्वान मौलवी महेश प्रसाद से उनका सात–आठ दिन तक आर्य समाज पर विस्तृत विचार–विमर्श हुआ। विभिन्न आर्य पत्र–पत्रिकाओं में उनकी पुस्तकों के विज्ञापन छपते थे और आर्य समाजी पत्र उनकी पुस्तकों की समीक्षाएँ और लेख छापते रहते थे। उन्हें गुरूकुल काँगड़ी के 1927 के वार्षिकोत्सव में आमंत्रित किया गया था। 1936 में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की अर्द्ध–शताब्दी के अवसर पर लाहौर आर्य समाज के वार्षिकोत्सव में आयोजित आर्य भाषा सम्मेलन के वे सभापति बनाये गए थे। अध्यक्ष पद से दिया गया उनका भाषण आर्य समाज के साथ उनके सम्बन्धों को सुदृढ़ रूप प्रदान करता है।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में जो सुधारवादी भावना दिखायी देती है वह आर्य समाज के प्रभाव के कारण ही है।

आर्य समाज से प्रभावित कहानीकार हैं–प्रेमचन्द, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, धनीराम प्रेम, श्रीकृष्ण प्रसाद गौड़ 'बेढब', द्विजेन्द्र नाथ मिश्र 'निर्गुण', स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, यशपाल और विष्णु प्रभाकर।

आर्य समाज से प्रभावित नाटककारों में श्री नारायण प्रसाद 'बेताब', तुलसीदत्त शैदा, सुदर्शन, हरिशंकर शर्मा, चतुरसेन शास्त्री और चन्द्रगुप्त विद्यालंकार मुख्य हैं।

आर्य समाज से प्रभावित निबंधकारों में पं0 पद्म सिंह शर्मा, डॉ0 हरिशंकर शर्मा, कृष्णदेव प्रसाद गौड़ 'बेढ़ब', डॉ0 धीरेन्द्र वर्मा, डॉ0 वासुदेव शरण अग्रवाल, डॉ0 नगेद्र तथा डॉ0 विजयेन्द्र स्नातक की गणना होती है।

आर्य समाज से प्रभावित समीक्षकों में पं0 पद्म सिंह शर्मा, डा0 मुंशीराम शर्मा, डा0 नगेन्द्र, डा0 विजयेन्द्र स्नातक तथा डा0 सत्येन्द्र के नाम आते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नवजागरण की चेतना से ओत–प्रोत आर्य समाज ने हिन्दी साहित्य को बहुत गहराई तक प्रभावित किया है।

12

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी की आलोचना-दृष्टि

आचार्य पं0 महावीरप्रसाद द्विवेदी का हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान है। वे हिन्दी के युगप्रवर्तक साहित्यकार माने जाते हैं। उन्होंने अपने युग का नेतृत्व कर, हिन्दी साहित्य को एक नयी दिशा प्रदान की। द्विवेदी जी की ख्याति कुशल सम्पादक, कवि, निबन्धकार, आलोचक तथा भाषा–सुधारक के रूप में रही है। उन्होंने सन् 1903 से लेकर सन् 1920 तक बड़ी निष्ठा और लगन के साथ 'सरस्वती' का सम्पादन किया। सरस्वती के सम्पादक के रूप में द्विवेदी जी ने हिन्दी भाषा और साहित्य के उत्थान के लिए जो कार्य किया, वह चिरस्मरणीय है। उन्होंने स्वयं तो साहित्य–सर्जना की ही, साथ ही अपने सम–सामयिक रचनाकारों को भी साहित्य–सर्जना के लिए प्रेरित किया। उनके प्रोत्साहन और मार्गदर्शन के परिणामस्वरूप कवियों और लेखकों की एक पीढ़ी का निर्माण हुआ। द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादक के आसन पर बैठकर खड़ी बोली का परिष्कार किया तथा उसे स्थिरता प्रदान की। उनके इस योगदान को भुलाया नहीं जा सकता।

द्विवेदी जी ने कविताएँ भी लिखीं। संस्कृत ग्रंथों के पद्य में अनुवाद भी किये। पर इस कार्य में उनकी रूचि न थी। अतः इससे विरत हो गए। जैसा कि उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है–'अज्ञता और अविवेक के कारण कुछ दिन हमने भी तुकबन्दी का आयास किया था। पर कुछ समझ आते ही हमने अपने को इस काम का अनधिकारी समझा। अतएव उस मार्ग से जाना ही प्रायः बन्द कर दिया।'

(रसज्ञ रंजन, महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ0–20)

द्विवेदी जी को गद्य लेखन के क्षेत्र में विशेष सफलता मिली है। उनका गद्य साहित्य दो रूपों में मिलता है– 1. निबन्ध के रूप में, 2. आलोचना के रूप में।

द्विवेदी जी के पहले यद्यपि हिन्दी में बहुत से निबन्ध लिखे गए थे, पर उनकी उचित प्रतिष्ठा न हो पायी थी। द्विवेदी जी ने पहली बार निबन्ध विधा को हिन्दी में प्रतिष्ठित किया। सम्पादक तथा पत्रकार के रूप में उन्होंने संक्षिप्त, मनोरंजक, सरल तथा ज्ञानवर्धक निबन्धों की परम्परा

चलाकर निबन्ध को हिन्दी का प्रमुख अंग बना दिया। उनके निबन्धों की भाषा–शैली ही उस युग के निबन्धकारों की भाषा–शैली बनी।

आचार्य द्विवेदी ने सम्पादक और पत्रकार के रूप में जहाँ एक ओर निबन्धों का सृजन किया, वहीं दूसरी ओर आलोचनाएँ भी लिखीं। निबन्धों की तरह उनका आलोचना साहित्य भी बहुत समृद्ध है। उन्होंने भारतेन्दुयुगीन हिन्दी आलोचना को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया। हिन्दी आलोचना का सूत्रपात हम भारतेन्दु युग से भले ही मान लें, पर उसका विधिवत् विकास द्विवेदी युग में ही आकर हुआ।

भारतेन्दुयुगीन हिन्दी आलोचना, पुस्तक–समीक्षा या दोष–दर्शन तक ही सीमित थी। विविध पत्र–पत्रिकाओं में 'पुस्तक समीक्षा' के अन्तर्गत सामान्यतः पुस्तकों का परिचयात्मक विज्ञापन ही प्रशंसा या निंदा के वाक्यों के साथ छपा करता था। इस युग में गम्भीर आलोचनाएँ प्रायः कम ही लिखी गईं। भारतेन्दु कृत 'नाटक' इसका अपवाद है। वह हिन्दी में सैद्धान्तिक समालोचना का पहला प्रयास है जिसमें भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य–सिद्धान्तों का समन्वय प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त पं0 बदरीनारायण चौधरी उपाध्याय 'प्रेमघन' तथा पं0 बालकृष्ण भट्ट ने 'हिन्दी प्रदीप' में कुछ गम्भीर आलोचाएँ लिखीं। भारतेन्दु युग में तीन अन्य प्रकार की आलोचनाओं का अस्तित्व भी स्वीकार किया जा सकता है– 1. रीतिकालीन लक्षण ग्रंथों की परम्परा में लिखित सैद्धान्तिक आलोचनाएँ, 2. ब्रजभाषा एवं खड़ी बोली गद्य में लिखी टीका–पद्धति की आलोचनाएँ, 3. इतिहासग्रन्थों में कवि परिचय के रूप में लिखी आलोचनाएँ।

द्विवेदी जी को हिन्दी आलोचना की यही परम्परा विरासत में मिली थी। उनकी आरम्भिक आलोचात्मक कृतियों में इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' तथा 'हिन्दी शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना' में द्विवेदी जी ने दोष–दर्शन पर ही बल दिया है। पर शीघ्र ही उन्हे यह बोध हो गया कि यह तो आलोचना का सर्वथा एकांगी दृष्टिकोण है। आलोचना में गुण–दोष दोनों का विवेचन होना चाहिए। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर उन्होंने संस्कृतग्रन्थों की आलोचना की। इस आलोचना के पीछे उनका उद्देश्य यह था कि एक तो जनसामान्य का इन ग्रन्थों से परिचय हो जाए और दूसरे इनके गुण–दोष भी पढ़ने वाले को विदित हो जाएँ।

जैसा कि द्विवेदी जी ने स्वयं स्वीकार किया है–'संस्कृतग्रन्थों की समालोचना हिन्दी में होने से यह लाभ है कि समालोचित ग्रन्थों का सारांश और उनके गुण–दोष पढ़ने वाले को विदित हो जाते हैं।'' (विक्रमांकदेव चरित चर्चा, पृ0 1–2) । पुस्तक समीक्षा के संदर्भ में भी द्विवेदी जी का यह मत था कि –'पुस्तक के गुण–दोष उसे (लेखक को) मालूम हो जायँ।' (वाग्विलास, पृ0 268)। पर भारतेन्दुयुगीन समीक्षकों के गुण–दोष विवेचन और द्विवेदी जी के गुण–दोष विवेचन में विषय, प्रतिपादन के ढंग तथा दृष्टिकोण की नवीनता के कारण पर्याप्त अन्तर है। समालोचक का कर्त्तव्य बताते हुए द्विवेदी जी ने लिखा है–'किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरंजन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं, यदि नहीं तो उससे पुरानी ही बात को नये ढंग से लिखा है या नहीं–यही विचारणीय विषय है। समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए।'

(विचार विमर्श, पृ0–45)

यदि भारतेन्दु युग पुनर्जागरण का काल था तो द्विवेदी युग जागरण–सुधार का। इस युग के रचनाकारों ने अपनी परम्परा के प्रति श्रद्धा रखते हुए वर्तमान की चुनौतियों को स्वीकार किया। उन्नीसवीं शताब्दी का अंत होते–होते हवा बदलने लगी थी। भक्ति एवं श्रृंगारपूर्ण रचनाओं का स्वाद फीका पड़ने लगा था। समस्यापूर्तियों एवं नीरस तुकबन्दियों से लोग ऊबने लगे थे। ब्रजभाषा का आकर्षण भी निःशेष हो गया था। राष्ट्रीय–सांस्कृतिक जागरण की भावना बलवती हो उठी थी। ज्ञान–विज्ञान के क्षेत्रों का विस्तार हो रहा था। पश्चिम से हमारा सम्पर्क बढ़ रहा था। इस परिवर्तन से हमारे नैतिक मूल्य भी बदलने लगे। इस परिवर्तन ने साहित्य को भी प्रभावित किया। लोगों की रूचि बदली तो काव्य के विषय भी बदले। न जाने कितने छोटे–छोटे, नगण्य और काव्य क्षेत्र के लिए अपरिचित प्रसंग काव्य के रूप में गृहीत हुए। आलोचना इस अभीष्ट परिवर्तन को लाने का उपकरण बनी। यही कारण है कि उस युग के सर्जनात्मक साहित्य पर आलोचना का वर्चस्व है।

द्विवेदी युग भारतीय तथा पाश्चात्य विचार धाराओं के सम्मिलन का भी युग था । इस युग में पश्चिमी साहित्य एवं आलोचना के सिद्धान्तों से

हिन्दी के साहित्यकारों व आलोचकों का परिचय हुआ । विदेशी भाषाओं की साहित्यिक एवं आलोचनात्मक कृतियों के अनुवाद भी हिन्दी में प्रकाशित किये गए। सन् 1897 ई0 में जगन्नाथ दास रत्नाकर ने पोप के 'एस्से ऑन क्रिटिसिज्म' का 'समालोचनादर्श' नाम से अनुवाद किया था । सन् 1905 में आचार्य शुक्ल ने एडिसन के 'एस्से ऑन इमेजिनेशन' का 'कल्पना का आनन्द' नाम से अनुवाद किया । स्वयं द्विवेदी जी ने हर्बट स्पेंसर के 'एजूकेशन', जॉन स्टुअर्ट मिल के 'ऑन लिबर्टी' तथा बेकन के निबन्धों का अनुवाद प्रस्तुत किया । इसके अतिरिक्त बंगला, मराठी तथा उर्दू आदि भारतीय भाषाओं की आलोचनात्मक कृतियों का भी लोगों ने गम्भीरता से अध्ययन किया । इन सबका द्विवेदीयुगीन हिन्दी आलोचना पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा है ।

स्वयं द्विवेदी जी ने अपने काव्यसिद्धान्त–प्रतिपादक कुछ निबन्धों में कई अंग्रेज लेखकों का आधार लिया है । द्विवेदीयुगीन हिन्दी आलोचना पर अठारहवीं शताब्दी के नव्यशास्त्रवादी आलोचकों – अलेग्जेंडर पोप एवं डा0 जान्सन का विशेष प्रभाव है। इन आलोचकों ने ऐसे साहित्यसृजन को श्रेष्ठ माना है जिसमें बुद्धि और कल्पना के मेल से आनन्द और सत्य का समन्वय किया गया हो। 'प्राचीनता के प्रति श्रद्धापरक, आदर्शवादी, लोकशिक्षणमूलक साहित्य संबंधी यह विभाजन द्विवेदी युग के आलोचकों को अपनी रुचि के अनुकूल लगा । (हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास, नवम् भाग, पृ0 146) । स्वयं द्विवेदी जी ने इस तथ्य को स्वीकार किया है । उनका कथन है कि – 'समालोचक को न्यायाधीश की भाँति निष्पक्ष और निर्भय होना पड़ता है । सच्चे समालोचक को बड़े–बड़े कवि, विज्ञानवेत्ता, इतिहास लेखक और वक्ताओं की कृतियों पर फैसला सुनाने का अधिकार होता है। ढंग सभ्यतापूर्ण और युक्तिसंगत होना चाहिए । पांडित्यसूचक आलोचना भूलों के प्रदर्शन तक ही रह जाती है । प्रमुख बात तो आलोचक की वस्तूपस्थापन शैली, मनोरंजकता, नवीनता, उपयोगिता आदि है। जिसके कार्य या ग्रन्थ की समालोचना करनी है उसके विषय में समालोचक के हृदय में अत्यन्त सहानुभूति का होना बहुत आवश्यक है । लेखक कवि या ग्रन्थकार के हृदय में घुसकर समालोचक को उसके हर एक परदे का पता लगाना चाहिए । अमुक उक्ति लिखते समय कवि के हृदय की क्या अवस्था थी, उसका आशय क्या था, किस भाव को प्रधानता देने के लिए उसने वह

उक्ति कही थी – यह जब तक समालोचक को नहीं मालूम होगा तब तक वह उस उक्ति की आलोचना कभी न कर सकेगा।'

(कालिदास और उनकी कविता, महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ0–112)

द्विवेदी जी ने भारतीय और पश्चिमी साहित्य–सिद्धान्तों के मेल से बनी नयी साहित्य चेतना को हिन्दी में विकसित करने का प्रयास किया । इस हेतु उन्होंने 'कवि–कर्त्तव्य', 'कवि और कविता', 'कवि शिक्षा', 'नाट्यशास्त्र', 'नाटक तथा उपन्यास' आदि आलोचनात्मक निबन्ध लिखे ।

द्विवेदी जी ने आलोचक का बाना युगनिर्माण के महान कार्य के लिए धारण किया । उनकी दृष्टि रुचि परिष्कार और भाषा सुधार पर ही केन्द्रित थी । वस्तुतः यही उनके युग की माँग भी थी । अपनी आलोचनाओं द्वारा उन्होंने कवियों और लेखकों का पथ–प्रदर्शन किया ।

द्विवेदी जी ने किसी ठोस आलोचनात्मक ग्रन्थ का सृजन नहीं किया। उनकी आलोचनाएँ सरल पुस्तिकाओं और निबन्धों के रूप में ही हैं । उन्होंने आलोचना का आरम्भ अनूदित ग्रन्थों से किया । सन् 1896 ई0 के आरम्भ में द्विवेदी जी की 'कुमारसंभव भाषा' की समालोचना प्रकाशित हुई । नवम्बर 1897 ई0 से मई 1898 ई0 तक 'वेंकटेश्वर समाचार' में उनकी 'ऋतुसंहार भाषा' की समालोचना छपी । सन् 1901 ई0 में द्विवेदी जी की पहली आलोचनात्मक पुस्तक 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' प्रकाशित हुई । उसमें मेघदूत और रघुवंश की समालोचनाओं को भी जोड़ दिया गया। लाला सीताराम बी0ए0 ने कालिदास के इन महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का हिंदी अनुवाद किया । इन अनुवादों ने महाकवि कालिदास के काव्यसौन्दर्य को नष्ट कर दिया था । अनुवादों की भाषा भी अपरिष्कृत और भ्रष्ट थी । द्विवेदी जी ने इन अनुवादों की निकृष्टता और कालिदास के ग्रन्थों की उत्कृष्टता सिद्ध करने के लिए ही ये आलोचनाएँ लिखीं । इस प्रकार उन्होंने जनता को पथभ्रष्ट होने से बचाया ।

सन् 1899 ई0 में द्विवेदी जी ने 'हिन्दी शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना' लिखी । इसमें उन्होंने पुस्तक का दोषदर्शन ही किया है । इसकी आलोचना बड़ी संहारात्मक है । वस्तुतः ऐसा उन्होंने हिन्दी पाठकों और लेखकों के कल्याण के लिए ही किया है । उनका कथन है – 'हम जानते हैं कि किसी कृति में दोष दिखलाना बुरा है । परन्तु जिससे सर्वसाधारण को हानि पहुँचती हो, ऐसे दोषों को प्रकाश करके उनको दूर

करने की चेष्टा करना बुरा नहीं है । इस प्रकार का दोषाविष्कारण यदि लाभदायक न होता तो हमारी न्यायशीला गवर्नमेण्ट पुस्तकों और राजकीय कार्यों की समालोचना की अपराधों की तालिका में गणना करके उसके लिए भी पेनल कोड में दंड निर्धारित करती । फिर जिस लेखक के दोष दिखलाए जाते हैं, वह यदि शान्तचित्त होकर विचार करे तो समालोचना से उसका भी लाभ ही होता है, हानि नहीं होती । ऐसे अनेक लोग हैं जो अपनी विद्या, अपनी बुद्धि और अपनी योग्यता का पूरा–पूरा विचार किए बिना ही पुस्तकें लिखकर ग्रन्थकार बनने का गर्व हाँकते हैं । अपने दोष अपने ही नेत्रों से उनको नहीं दीख पड़ते । उन्हीं को क्या मनुष्यमात्र को अपने दोष प्रायः नहीं दिखाई देते । अतएव उनके दोष उनको दिखलाने के लिए दूसरे ही की अपेक्षा होती है ।'

(हिंदी शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना, पृ0–2)

द्विवेदी जी ने श्रीहर्ष और बिल्हण आदि संस्कृत कवियों को लेकर कुछ परिचयात्मक समीक्षाएँ निकालीं। इस प्रकार की समीक्षाओं में 'नैषधचरित चर्चा' और 'विक्रमांकदेवचरित चर्चा' मुख्य हैं । 'नैषधचरित चर्चा' सन् 1900 ई0 में लिखी गयी और 'विक्रमांकचरित चर्चा' सन् 1907 ई0 में । डा0 उदयभानु सिंह के शब्दों में – 'इन आलोचनाओं में द्विवेदी जी ने संस्कृतसाहित्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने और पश्चिमीय विद्वानों के अनुसंधान द्वारा प्राप्त संस्कृतसम्बन्धी बातों से हिन्दी संसार को परिचित कराने का प्रयास किया है।'

(महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, डा0 उदयभानु सिंह, पृ0–138, प्रथम आवृत्ति)

द्विवेदी जी की तीसरी आलोचनात्मक कृति 'कालिदास की निरंकुशता' है। यह सन् 1911 ई0 में पुस्तकाकार प्रकाशित हुई । इसमें भाषा और व्याकरण के वे व्यतिक्रम इकट्ठे किये गए हैं जिन्हें संस्कृत के विद्वान लोग कालिदास की कविता में बताया करते हैं । द्विवेदी जी के ही शब्दों में–इस आलोचना का उद्देश्य केवल वाग्विलास या मनोरंजन मात्र था ।

द्विवेदी जी ने सन् 1901 ई0 से लेकर सन् 1917 ई0 के बीच जो समीक्षात्मक निबन्ध लिखे, उनका संग्रह सन् 1928 ई0 में 'आलोचनांजलि' नाम से प्रकाशित हुआ ।

इस संग्रह के निबन्ध भिन्न–भिन्न आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखे गए थे । इन निबन्धों की अपनी अलग विशेषता है ।

द्विवेदी जी के समय तक कालिदास पर हिन्दी में कोई पुस्तक नहीं लिखी गयी थी । फलतः उन्होंने 'कालिदास और उनकी कविता' लिखी । यह पुस्तक सन् 1920 ई0 में प्रकाशित हुई । यह द्विवेदी जी के उन निबन्धों का संग्रह है जो उन्होंने सन् 1911–12 ई0 के आस–पास लिखे थे। 'कालिदास और उनकी कविता' द्विवेदी जी की ठोस आलोचनात्मक कृतियों में से एक है। डा0 उदयभानु सिंह के अनुसार–'इसमें उन्होंने अनेक प्राच्य और पश्चिमात्य विद्वानों के मतों का उल्लेख, उनकी परीक्षा और अपने मत की युक्ति–युक्त स्थापना की है । (महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, डॉ0 उदयभानु सिंह, पृ0–139, प्रथम आवृत्ति)।' यह द्विवेदी जी के गहन अध्ययन और गम्भीर चिन्तन का परिणाम है ।

'आलोचना समुच्चय', 'विचार विमर्श' और 'रसज्ञ रंजन' द्विवेदी जी की अन्य समालोचनात्मक कृतियाँ हैं । वस्तुतः ये स्वतंत्र पुस्तकें न होकर समालोचनात्मक लेखों के संग्रह हैं ।

'समालोचना समुच्चय' का प्रकाशन सन् 1928 ई0 में हुआ । इसमें सामयिक पुस्तकों की समीक्षा के रूप में लिखे गए निबंध संकलित हैं । इस संकलन के अन्तिम निबन्ध 'हिन्दी नवरत्न' में द्विवेदी जी की पुस्तक–समीक्षा पद्धति के सुन्दर दर्शन होते हैं ।

'विचार विमर्श' का प्रकाशन सन् 1931 ई0 में हुआ । यह 'सरस्वती' में प्रकाशित द्विवेदी जी के लेखों और टिप्पणियों का संग्रह है । इस संग्रह के मात्र कुछ ही लेख आलोचनात्मक हैं ।

'रसज्ञ रंजन' द्विवेदी जी की महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृति है । इसका प्रकाशन सन् 1920 ई0 में हुआ । यह 'सरस्वती' में प्रकाशित द्विवेदी जी के साहित्यिक लेखों का संग्रह है। 'कवि कर्त्तव्य' 'कवि और कविता', 'कविता', 'हंस संदेश', 'हंस का दुस्तर दूत कार्य' तथा 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' आदि इसके प्रमुख साहित्यिक निबन्ध हैं । इन निबन्धों में आलोचना और मनोरंजकता का सुन्दर समन्वय मिलता है। द्विवेदी जी को इन निबन्धों के कारण पर्याप्त ख्याति मिली ।

संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य में आलोचना की विभिन्न पद्धतियाँ दिखाई देती हैं । द्विवेदी जी ने अपनी आलोचनाओं में इन्हीं पद्धतियों का अनुसरण किया है। सुविधा की दृष्टि से इन्हें निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

1. आचार्य पद्धति या सिद्धान्तमूलक
2. शास्त्रार्थ पद्धति
3. जीवन वृत्तान्तीय
4. तुलनात्मक पद्धति
5. पुस्तक समीक्षा
6. खंडन पद्धति
7. लोचन पद्धति
8. भाषा सम्बन्धी आलोचना

द्विवेदी जी ने संस्कृत आचार्यों के लक्षणग्रन्थों का गहन अध्ययन किया था। अतः उन्होंने संस्कृत की आचार्य–पद्धति पर 'रसज्ञ रंजन' और 'नाट्यशास्त्र' की आलोचनाएँ लिखीं। 'कविता', 'कवि और कविता', 'नायिका भेद', 'कवि बनने के सापेक्ष साधन', 'आधुनिक कविता', बोलचाल की हिन्दी में कविता' तथा 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' आदि लेखों में स्थान–स्थान पर उनका आचार्यरूप देखा जा सकता है। पर द्विवेदी जी की आचार्य पद्धति की आलोचनाएँ संस्कृत की आचार्य पद्धति की आलोचनाओं से भिन्न हैं। अपनी इन आलोचनाओं में सिद्धान्तों का निरूपण करते हुए द्विवेदी जी की दृष्टि उपयोगिता और नैतिकवादी पक्ष पर रही है। उन्होंने युगीन परिस्थितियों और आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर आलोचनाएँ कीं। अपनी इन आलोचनाओं में उन्होंने पाश्चात्य समीक्षा प्रणालियों का भी अनुगमन किया है। द्विवेदी जी की सिद्धान्तमूलक़ आलोचनाओं की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने स्वयं को किसी वाद से नहीं जोड़ा। वे न तो रसवादी थे, न अलंकारवादी, न रीतिवादी, न वक्रोक्तिवादी, न ध्वनिवादी, न चमत्कारवादी और न ही अन्तःसमीक्षावादी। उनकी आलोचनाओं में सभी वादों का सार समन्वित है।

संस्कृत आचार्यों ने पूर्ववर्ती आलोचकों के मत का खंडन और अपने विचारों का मंडन करने के लिए शास्त्रार्थ–पद्धति की आलोचना को जन्म दिया। इस प्रकार की आलोचना में विपक्ष के दोषों और अपने पक्ष के गुणों को ही देखने की चेष्टा की जाती थी। संस्कृत आलोचना की इस पद्धति का प्रभाव द्विवेदी जी पर भी पड़ा है। 'नैषध चरित चर्चा और सुदर्शन', 'भद्दी कविता', 'भाषा और व्याकरण', 'कालिदास की निरंकुशता पर

विद्वानों की सम्मतियाँ' तथा 'प्राचीन कवियों के काव्यों में दोषोद्भावना' आदि आलोचनाएँ शास्त्रार्थ–पद्धति पर की गई हैं। द्विवेदी जी ने अपनी इन आलोचनाओं में स्वपक्ष का मंडन करते हुए जिन तर्कों को प्रस्तुत किया है, वे अकाट्य हैं। पर कहीं–कहीं उनके तर्कों की कठोरता और आक्षेपों की तीव्रता असह्य हो उठती है।

द्विवेदी युग में शास्त्रार्थ–पद्धति की आलोचना का बहुत जोर रहा। 'बिहारी और देव' तथा 'देव और बिहारी' आदि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं।

द्विवेदी जी ने जीवन–वृत्तान्तीय आलोचना–पद्धति का आंशिक अनुगमन किया है। कालिदास की आलोचना करते हुए उन्होंने उनका जीवन–वृत्त भी प्रस्तुत किया है। द्विवेदी जी ने कालिदास को विक्रम संवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य का दरबारी कवि माना है। इस संदर्भ में उन्हें जो प्रतिकूल मान्यताएँ मिलीं, उनका खंडन किया है। पर इस प्रकार की आलोचनाओं में उनकी मौलिक अनुसंधान–प्रवृत्ति के दर्शन नहीं होते।

हिन्दी साहित्य में तुलनात्मक समीक्षा को प्रतिष्ठापित करने का श्रेय पं0 पद्मसिंह शर्मा को है। उन्होंने बिहारी सतसई का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। मिश्र बन्धुओं ने भी 'हिन्दी नवरत्न' में कुछ मोटी–मोटी बातों को लेकर तुलसी और शेक्सपियर की तुलना की थी। द्विवेदी जी ने भी 'सरस्वती' में प्रकाशित 'कालिदास की विद्वत्ता' नामक अपने लेख में कालिदास और शेक्सपियर को लेकर तुलनात्मक संभावनाओं पर बल दिया। अपने इसी लेख में उन्होंने कालिदास की तुलना भवभूति से की।

'सरस्वती' का सम्पादन करते हुए द्विवेदी जी ने अनेक पुस्तकों की समीक्षा लिखी। इनमें मिश्र बन्धुओं के 'हिन्दी नवरत्न' की समीक्षा, शिवप्रसाद गुप्त की पुस्तक 'पृथिवी प्रदक्षिणा' की समीक्षा तथा श्री सूर्यनारायण दीक्षित की पुस्तक 'अकबर के राजत्वकाल में हिन्दी' की समीक्षा प्रमुख हैं। 'हिन्दी नवरत्न' की समीक्षा तो उस युग की श्रेष्ठ समीक्षाओं में से एक मानी जाती है। द्विवेदी जी की प्रौढ़ पुस्तक समीक्षाएँ 'समालोचना समुच्चय' में संकलित हैं। इन समीक्षाओं में उनकी निष्पक्ष समीक्षादृष्टि का परिचय मिलता है।

संस्कृत साहित्य में खंडन–पद्धति की आलोचना का भी प्रचलन रहा है। इसके दो रूप मिलते हैं। एक तो वह जिसमें आलोचक, आलोच्य की मान्यताओं या सिद्धान्तों का खंडन करता है। इसमें उसका उद्देश्य

वास्तविक ज्ञान का प्रचार करना होता है। दूसरे प्रकार की आलोचना में आलोचक अपने पांडित्य और आलोच्य की अज्ञता का प्रदर्शन करता है। द्विवेदी जी ने अपनी कुछ आलोचनाओं में संस्कृत की खण्डन–पद्धति का भी सहारा लिया है। पर इनमें उनकी दृष्टि दोष–दर्शन और अभावों की ओर संकेत करने की ही रही है। इन आलोचनाओं का उद्देश्य था आलोचना द्वारा अभावों की पूर्ति के लिए साहित्यकारों को प्रेरित करना। उनका 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' नामक समालोचनात्मक लेख ऐसा ही है जिसने गुप्त जी को 'साकेत' लिखने की प्रेरणा दी। 'हिन्दी नवरत्न' आदि निबन्धों में भी कहीं–कहीं आलोचना की इस पद्धति के दर्शन होते हैं। द्विवेदी जी ने दोषमूलक आलोचनाएँ हिन्दी का परिष्कार करने के लिए लिखी हैं। उनकी इस प्रकार की आलोचनाओं में 'हिन्दी कालिदास की समालोचना', 'हिन्दी शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना', 'कालिदास की निरंकुशता', 'नायिका भेद', 'हे कविते', 'ग्रन्थकार लक्षण', 'भाषा–पद्य व्याकरण' आदि मुख्य हैं। द्विवेदी जी की इन आलोचनाओं के संदर्भ में डॉ0 उदयभानु सिंह का मत है –'द्विवेदीकृत खंडनात्मक आलोचनाओं का कारण किसी प्रकार का ईर्ष्या द्वेष नहीं है। हिन्दी का सच्चा उपासक उसके मन्दिर में किसी भी प्रकार का व्यभिचार नहीं देख सका है। इसीलिए उसमें कटुता आ गयी है किन्तु वह सार्वत्रिक न होकर यथास्थान है।'

(महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, डॉ0 उदयभानु सिंह पृ0–131)

द्विवेदी जी ने संस्कृत की लोचन–पद्धति पर भी कुछ आलोचनाएँ लिखी हैं। वस्तुतः उनकी इस प्रकार की आलोचनाओं को व्यावहारिक आलोचना के अन्तर्गत स्थान दिया जा सकता है। इनमें 'नैषध चरित चर्चा', 'विक्रमांकदेव चरित चर्चा', 'कालिदास की कविता' तथा ''मेघदूत रहस्य', 'रघुवंश' और 'किरातार्जुनीय' की भूमिकाएँ मुख्य हैं। अपनी इन आलोचनाओं में द्विवेदी जी ने सौन्दर्यपरक दृष्टि से विचार किया है। पर कहीं–कहीं ऐतिहासिक, जीवनीपरक तथा तुलनात्मक दृष्टि भी मिलती है।

द्विवेदी जी ने अपने आलोचक जीवन का आरम्भ भाषा सम्बन्धी त्रुटियों की कठोर आलोचना द्वारा किया। वे भाषा की शुद्धता पर विशेष ध्यान देते थे। व्याकरण–विरुद्ध लेखन उन्हें किसी भी प्रकार सह्य न था। इसे वे लेखक की सबसे बड़ी कमजोरी मानते थे। यही कारण है कि उन्होंने अपनी अधिकांश आलोचनाओं में भाषा सम्बन्धी अशुद्धियों का उल्लेख किया

है। उनकी 'हिन्दी कालिदास की समालोचना' तथा 'हिन्दी शिक्षावली, तृतीय भाग की समालोचना' में भाषा सम्बन्धी अशुद्धियों की ही समीक्षा की गयी है। द्विवेदी जी ने अपनी आलोचनाओं द्वारा हिन्दी भाषा का संस्कार किया। उनके भाषा–संस्कार के महत्व को स्वीकार करते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है–'यद्यपि द्विवेदी जी ने हिन्दी के बड़े–बड़े कवियों को लेकर गम्भीर साहित्य समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नयी निकली पुस्तकों की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिन्दी साहित्य का बड़ा भारी उपकार किया। यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरणविरुद्ध और ऊटपटाँग भाषा चारों ओर दिखायी पड़ती थी, उसकी परम्परा जल्दी न रुकती। उनके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी, उन्होंने अपना सुधार किया।'

(हिंदी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ0–528)

द्विवेदी जी को अपनी इस प्रकार की आलोचनाओं के कारण अनेक आलोचना–समर भी झेलने पड़े। उनकी आलोचनाओं के विरुद्ध प्रत्यालोचना के रूप में अनेक लेख लिखे गए। स्वयं उनकी भाषा सम्बन्धी भूलों और विसंगतियों की चर्चा की गयी। पर द्विवेदी जी इससे विचलित न हुए। उन्होंने अपने विरोधियों को मुँहतोड़ उत्तर दिया। इससे उनका आलोचक–रूप और अधिक निखर उठा। साथ ही उनके भाषा–संस्कार सम्बन्धी कार्य को बल मिला।

द्विवेदी जी ने आलोचना की जो दृष्टि विकसित की वह कई मामलों में उनके समकालीन आलोचकों से भिन्न थी। उनके समकालीन प्रमुख आलोचक थे–बाबू बालमुकुन्द गुप्त, मिश्रबन्धु, पं0 पद्मसिंह शर्मा, पं0 गोविन्दनारायण मिश्र, पं0 माधव प्रसाद मिश्र, लाला भगवानदीन तथा पं0 कृष्णबिहारी मिश्र आदि। द्विवेदी जी को छोड़कर इन सभी आलोचकों की मानसिकता पर रीतिकाल की गहरी छाप थी। ये परम्परावादी आलोचक थे और अतिशयोक्ति, अलंकार और रमणीयता को ही काव्य का बड़ा गुण मानते थे। प्राचीन कवियों पर इनकी बड़ी श्रद्धा थी। ये उनकी किसी भी प्रकार की आलोचना सहन नहीं कर पाते थे। जबकि द्विवेदी जी की आलोचनादृष्टि युग सापेक्ष थी। वे साहित्य को जाति और स्वदेश की उन्नति का साधन मानते थे।

उनका मत था कि–'साहित्य ऐसा होना चाहिए जिसके आकलन से बहुदर्शिता बढ़े, बुद्धि की तीव्रता प्राप्त हो, हृदय में एक प्रकार की संजीवनी शक्ति की धारा बहने लगे, मनोवेग परिष्कृत हो जायँ और आत्मगौरव की उद्भावना हो।' (महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनका युग, डॉ0 उदय भानु सिंह, पृ0–121)। उनकी आलोचनाओं में भी उनकी यही दृष्टि विद्यमान है। द्विवेदी जी की आलोचनादृष्टि अपने समकालीनों से अधिक स्पष्ट, व्यापक तथा युगानुकूल है। उनकी आलोचनाओं में उनका युग बोलता है। वस्तुतः युगनिर्माण के लिए ही द्विवेदी जी आलोचक बने थे। उनका उद्देश्य आलोचना के क्षेत्र में फैले हुए किसी मत–मतान्तर का खण्डन करना नहीं था। अपनी आलोचनाओं के द्वारा वे लेखकों को सुधार कर साहित्य–रचना के आदर्श मार्ग पर लाना चाहते थे।

उन्हें अपने इस कार्य में निश्चित ही आशातीत सफलता मिली है। उनसे प्रेरणा लेकर न जाने कितने लोग साहित्यकार हो गए। मैथिलीशरण गुप्त, कामताप्रसाद गुरू, रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास जैसे साहित्यकारों ने द्विवेदी जी को आचार्य माना और उनसे अपनी रचनाओं के संशोधन की प्रार्थना की। गंगानाथ झा, गोपालशरण सिंह, विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, लक्ष्मीधर वाजपेयी, लक्ष्मणनारायण गर्दे, बाबूराव विष्णु पराड़कर आदि ने उन्हें अपना गुरू स्वीकार किया। इस प्रकार बहुतों को द्विवेदी जी की साहित्य साधना का प्रसाद मिला। सरस्वती के इस वरद पुत्र का हिन्दी जगत् हमेशा ऋणी रहेगा।

13

स्वामी श्रद्धानन्द : हिन्दी साहित्यकार के रूप में

अमर हुतात्मा स्वामी श्रद्धानन्द जी का नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है। उन्होंने आर्यसमाज, राष्ट्र तथा शिक्षण के क्षेत्र में देश की महनीय सेवा की। उनके व्यक्तित्व में कर्मठता तथा बौद्धिकता का अद्भुत समन्वय देखने को मिलता है। स्वामी जी कर्मक्षेत्र के निर्भीक योद्धा होने के साथ ही एक सफल लेखक तथा साहित्यकार भी थे। उन्होंने उर्दू, हिन्दी तथा अंग्रेजी में कई महत्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की।

स्वामी जी के लेखकीय जीवन का आरम्भ एक पत्रकार के रूप में हुआ। उन्होंने 1889 ई0 में 'सद्धर्म प्रचारक' नाम से एक उर्दू साप्ताहिक पत्र निकाला। कुछ मित्रों के सुझाव पर कुछ वर्ष बाद इसे हिन्दी में निकालना आरम्भ कर दिया। पुस्तक रूप में प्रकाशित उनकी प्रथम रचना 'वर्णाश्रम व्यवस्था' है जो 1891 ई0 में प्रकाशित हुई।

हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धिं में स्वामी जी का महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होंने 'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से अपनी आत्मकथा लिखी। 'आर्यपथिक पं0 लेखराम' का जीवन–चरित्र प्रस्तुत किया। 'बन्दीघर के विचित्र अनुभव' तथा 'गोपाल कृष्ण गोखले' नामक सुन्दर संस्मरण भी लिखे। इस तरह स्वामी जी ने 'आत्मकथा', 'जीवनी' तथा 'संस्मरण' जैसी गद्य की नवीन विधाओं पर अपनी लेखनी चलाकर हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है।

'कल्याण मार्ग का पथिक' नाम से अपनी आत्मकथा स्वामी जी ने उस समय लिखी थी जब हिन्दी में आत्मकथा साहित्य का पूर्ण रूप से विकास भी नहीं हुआ था। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस आत्मकथा का हिन्दी आत्मकथा साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रकाशन संवत् 1981 में ज्ञानमंडल, वाराणसी से हुआ। इसमें स्वामी जी ने अपने जीवन के 35 वर्षों के क्रियाकलापों का लेखा–जोखा प्रस्तुत किया है। स्वामी जी का प्रारम्भिक जीवन बड़ा उतार–चढ़ाव भरा रहा। कई बार वे पतन के गर्त में भी गिरे। एक सच्चे आत्मकथा लेखक की तरह स्वामी जी ने अपने जीवन के इन कालिमा भरे पक्षों का बड़ा बेबाक चित्रण किया। वास्तव में यह

आत्मकथा उनके श्रेय मार्ग की ओर कदम बढ़ाने की अद्भुत, रोमांचक और शिक्षाप्रद कहानी है। इसीलिए उन्होंने इसका नाम 'कल्याण मार्ग का पथिक' रखा। स्वामी जी की यह आत्मकथा पथ से भटके लोगों के लिए प्रेरणा का स्रोत है । स्वामी जी की यह आत्मकथा नाना प्रकार के जीवनानुभवों से परिपूर्ण है।

इसमें अनेक रोचक तथा शिक्षाप्रद संस्मरण भरे पड़े हैं। आर्य समाज की उन दिनों की गतिविधियों को जानने के लिए यह आत्मकथा एक प्रामाणिक दस्तावेज है।

स्वामी जी की इस आत्मकथा में उनका व्यक्तित्व ही पाठक के आकर्षण का केन्द्र बन गया है। आत्मोद्घाटन के साथ–साथ उनका आत्मनिरीक्षण, आत्मविवेचन और आत्मविश्लेषण भी चलता रहा है। पर अपने भोगे हुए जीवन का चित्रण करने में स्वामी जी बराबर सचेत रहे हैं। इससे पाठक पर इसका अच्छा प्रभाव पड़ता है। इसमें हम उन्हें पतन के मार्ग से क्रमशः ऊँचे उठते देखते हैं। और ग्रंथ के अंत में तो वे साधना के उच्च शिखर पर खड़े दिखाई देते हैं। आत्मकथा को सजीव बनाने के लिए स्वामी जी ने सामाजिक एवं बाह्य परिस्थितियों का चित्रण किया है। इस परिवेश के ताने–बाने के बीच उनका चरित्र उभरता जाता है और पाठक के आकर्षण का केन्द्र बनता जाता है। आत्मकथा की भाषा तद्युगीन खड़ी बोली हिन्दी है जिसमें कई भाषाओं के शब्दों का प्रयोग देखने को मिलता है। लेखक की सरल, विवरणात्मक शैली ने आत्मकथा को रोचक बना दिया है। इस आत्मकथा का उद्देश्य पाठक को पतन के मार्ग से बचाना है। इसका उल्लेख स्वामी जी ने स्वयं आत्मकथा में कर दिया है– 'आत्मकथा के पाठ से बहुत से युवकों को संसार यात्रा में ठोकरों से बचने की शक्ति भी मिलेगी।'

(कल्याण मार्ग का पथिक, पृ0 4)

स्वामी जी ने अमर हुतात्मा पं0 लेखराम का जीवन–चरित्र 'आर्य पथिक पं0 लेखराम' नाम से लिखा। तब स्वामी श्रद्धानन्द 'मुंशीराम जिज्ञासु' के नाम से जाने जाते थे। पं0 लेखराम के अनेक जीवन–चरित्र लिखे गए, पर उनका प्रथम सर्वांगीण मौलिक जीवन–चरित्र स्वामी श्रद्धानन्द (मुंशीराम जिज्ञासु) ने ही लिखा। इसका प्रथम संस्करण 1914 ई0 में गुरुकुल कांगड़ी से प्रकाशित हुआ। पं0 लेखराम बहुत थोड़े समय ही

जीवित रहे। उन्होंने अपना पूरा जीवन वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के प्रचार–प्रसार में लगा दिया। स्वामी जी तथा पं0 लेखराम जी में उत्कृष्ट मैत्री और सौहार्द भाव था। दोनों ने अनेक स्थानों की प्रचार यात्राएँ साथ–साथ कीं। दोनों ने एक दूसरे के व्यक्तित्व, चरित्र, स्वभाव तथा विचारों को परख लिया था। दोनों की गणना आर्यसमाज के प्रमुख नेताओं में होती थी।

जीवनी साहित्य के रूप में 'आर्य पथिक पं0 लेखराम' एक सफल रचना है। इसमें पं0 लेखराम के सम्पूर्ण जीवन पर खुलकर प्रकाश डाला गया है। स्वामी जी ने उनके जीवन की प्रत्येक घटना को उजागर करने का भरसक प्रयास किया है। प्रारम्भ से लेकर अंत तक सम्पूर्ण जीवन चरित्र क्रमबद्ध रूप से लिखा गया है। एक सफल जीवनी लेखक की तरह स्वामी जी ने पं0 लेखराम का जीवन चरित्र प्रस्तुत करते हुए निष्पक्षता तथा ईमानदारी का परिचय दिया है। जहाँ तक इस जीवनी की भाषा का सवाल है, जीवनी लेखक ने पुस्तक की प्रस्तावना में ही लिख दिया है– 'आगे के पृष्ठों में भाषा के लालित्य तथा विचारों के पांडित्य को खोजना एक निष्फल परिश्रम होगा।' पर इस रचना में उनकी भाषा का लालित्य दिखाई ही दे जाता है। दृष्टान्तों और लोकोक्तियों के प्रयोग से इस रचना को और भी रोचक बना दिया है। कुल मिलाकर 'आर्य पथिक पं0 लेखराम, हिन्दी की उच्चकोटि की जीवनी रचना है।

'बन्दीघर के विचित्र अनुभव' नामक संस्मरण स्वामी श्रद्धानन्द के कारावास की कहानी है। इसका प्रथम संस्करण 1923 ई0 में प्रकाशित हुआ। अमृतसर में 'गुरु का बाग' नामक गुरूद्वारे के समीप की भूमि को लेकर अंग्रेजों तथा सिक्खों में परस्पर विवाद चल रहा था। अकालियों ने उस पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए सत्याग्रह का मार्ग अपनाया और समस्त देशवासियों को उसमें सम्मिलित होने का आह्वान किया। इस अहिंसक सत्याग्रह के समर्थन के लिए स्वामी जी अपने साथियों के साथ अमृतसर गये। वहां उन्होंने उपस्थित जनसमूह को सम्बोधित किया और सत्याग्रह में भाग लेने वालों को अपना आशीर्वाद दिया। परिणाम स्वरूप अंग्रेजों ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। उन पर मुकदमा चलाकर कारावास का दण्ड दिया गया। कुछ दिन उन्हें अमृतसर जेल में रखा गया, तत्पश्चात मियाँवाली (अब पाकिस्तान में) जेल में स्थानान्तरित कर दिया गया। स्वामी

जी को एक वर्ष चार मास की सजा सुनाई गयी थी, पर 26 दिसम्बर 1922 को उन्हें अचानक मियाँवाली जेल से मुक्त कर दिया गया। अपने इसी जेल जीवन के अनुभव को स्वामी जी ने 'बन्दीघर के विचित्र अनुभव' नाम से लेखनीबद्ध किया है। इस संस्मरण के नायक वे स्वयं हैं। सम्पूर्ण संस्मरण में उनका व्यक्तित्व साफ–साफ झलकता है। वे लिखते हैं–'प्रातः काल दो बजे नियम से उठता था। तीक्ष्ण वायु युक्त सर्दी में भी यह नियम शिथिल नहीं हुआ। लघुशंका कर और हाथ–मुँह धो–पोंछकर ध्यान में बैठ जाता।

(स्वामी श्रद्धानन्द ग्रंथावली, भाग.4, पृ0–141)

इस रचना में देशकाल का भी सफल चित्रण किया गया है। इसकी भाषा सरल किन्तु सरस है। अंग्रेजी तथा उर्दू के शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। इसकी शैली आत्मकथात्मक है। स्वामी जी का यह संस्मरण हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है।

स्वामी जी ने अपना दूसरा महत्वपूर्ण संस्मरण गोपाल कृष्ण गोखले पर लिखा। गोखले जी से स्वामी जी की प्रथम भेंट दिसम्बर 1900 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में हुई। इसके बाद तो दोनों में मैत्रीभाव कायम हो गया। गोखले जी से अपने सम्बन्धों का जिक्र करते हुए स्वामी जी लिखते हैं – 'परिस्थितियाँ ही कुछ ऐसी रहीं कि मैं दिसम्बर 1900 ई0 में श्री गोखले की कुछ अधिक सहायता नहीं कर सका। इसके कुछ अपरिहार्य कारण भी थे, किन्तु उस समय हम दोनों में जो मैत्री भाव बना वह निरन्तर बढ़ता ही गया और एक समय आया जबकि मातृभूमि की सेवा के समान कर्तव्य पालन में हम एक हो गये।'

(स्वामी श्रद्धानन्द ग्रंथावली, भाग–6, पृ0–172)

गोखले जी और स्वामी जी के बीच पत्राचार चलता रहा। इस संस्मरण में स्वामी जी ने पाँच पत्र गोखले जी के तथा चार पत्र अपने ज्यों के त्यों रखे हैं। वस्तुतः इन पत्रों के माध्यम से ही स्वामी जी ने गोखले जी का स्मरण किया है। पत्रों की भाषा बड़ी सजीव है।

इस तरह हम देखते हैं कि स्वामी जी ने अपनी इन रचनाओं द्वारा हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि तो की ही है, साथ ही हिन्दी जगत् में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान भी बना लिया है।

14

विद्रोही प्रेमचन्द और उनकी अंतिम कहानियाँ

अपनी पैंतीस वर्ष की साहित्यिक जिन्दगी में प्रेमचन्द को कई मोड़ों से होकर गुजरना पड़ा। शुरू में वे नैतिकता और आदर्शवाद के ढर्रे पर चले, पर विकास काल में यह ढर्रा यथार्थोन्मुख आदर्शवादी हो गया और अन्त समय में यथार्थवादी। उनका साहित्यकार आरम्भिक युग में नैतिक मूल्यों के महत्व को स्वीकारने लग जाता है और उसकी आदर्शवादी मान्यताएँ बहुत पीछे छूट जाती हैं। सन् 1920 के आस–पास से ही प्रेमचन्द के साहित्य में संघर्ष की चेतना का अस्पष्ट बोध होने लग जाता है जो सन् 30 तक आते–आते पूर्णतः स्पष्ट भी हो जाता है। सन् 30 के बाद की उनकी रचनाएँ–वे चाहे उपन्यास हों या कहानियाँ, पिछली रचनाओं से बिल्कुल अलग–थलग दिखलाई देती हैं। वास्तव में यह प्रेमचन्द के रचनात्मक उत्कर्ष का काल है जहाँ रोमांस और भावुकता के कटघरे से निकलकर वे सीधे जमीन से जुड़ जाते हैं। उनके इस जमीन से जुड़ने को कुछ लोग उनका मार्क्सवाद से प्रभावित होना मानते हैं तो कुछ लोग फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद से। प्रेमचन्द पर मार्क्स के सिद्धान्तों का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा है लेकिन इस आधार पर उन्हें मार्क्सवादी नहीं घोषित किया जा सकता, क्योंकि मार्क्स से अधिक वे गाँधी जी के विचारों से प्रभावित हैं। 'मनोविश्लेषणवाद का तो उनकी रचनाओं में मात्र अंकुर ही उत्पन्न होता है वह पौधे या वृक्ष का रूप नहीं धारण कर पाता।' (डॉ0 देवराज उपाध्याय का मत)। वस्तुतः यह प्रेमचन्द के मोहभंग की भी स्थिति है क्योंकि यहाँ आकर उनका विद्रोही स्वरूप मुखर हो जाता है जिसका प्रमाण 'पूस की रात' तथा 'कफन' जैसी उनकी अन्तिम श्रेष्ठ कहानियाँ हैं। इन कहानियों तक आते–आते उनमें गाँधीवादी आदर्शों के प्रति विश्वास नहीं रह जाता और वे खीझ और अकुलाहट से भरे दिखाई देते हैं और उनमें अपनी ही जमीन से जैसे एक चिढ़ सी हो जाती है। शुरू में शायद उनकी धारणा थी कि पारिवारिक आदर्शों की प्रतिष्ठा से ही समाज की अधिकांश समस्याएँ हल हो जाएँगी इसलिए उन्होंने भूल सुधार और हृदय परिवर्तन की कहानियाँ लिखीं। लेकिन यहाँ आकर उनका यह विश्वास ढह जाता है। वही प्रेमचन्द जो जीवन भर अपनी कहानियों में आदर्शवाद की दुहाई देते रहे, कहानी 'कफन' में आकर कफन तक की अनिवार्यता को नकार देते हैं।

और उन्हें 'पूस की रात' के हल्कू की उस स्थिति से बड़ा सन्तोष होता है जिसमें वह अपना खेत नीलगायों द्वारा चरवाकर भी प्रसन्नता का अनुभव करता है। वस्तुतः यह प्रेमचन्द की अपनी ही नियति है जिसने उन्हें मुदर्रिश से मजदूर बनाकर छोड़ा और वे मात्र कलम के मजदूर बन कर रह गये।

प्रेमचन्द को अपने जीवन में कम कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा, वह चाहे पारिवारिक क्षेत्र की कठिनाइयाँ रही हों, चाहे सामाजिक क्षेत्र की अथवा राजनीतिक। सात वर्ष के थे तभी माँ का देहान्त हुआ। पिता ने दूसरी शादी कर ली। इनकी भी शादी हुई। शादी क्या हुई, शादी के नाम पर बरबादी हुई। दूल्हन उम्र में दूल्हे से बड़ी और रंग काला। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में पिता का देहान्त हुआ और प्रेमचन्द के सिर पर पिता की जवान बीबी और उसके दो बच्चों का भार आ पड़ा। पैसों का अभाव, लिहाजा ट्यूशन पढ़ाना पड़ा। अच्छे अंक न आने से पढ़ाई में व्यवधान उपस्थित हुआ। किसी तरह से मैट्रीक्युलेशन पास किया और फिर चुनारगढ़ के मिशन स्कूल में नौकरी। यहाँ भी पैसे का संकट हमेशा उनके साथ रहा इसी कारण घर आना–जाना भी अधिक सम्भव नहीं हो पाता था। एक बार की घटना स्वयं प्रेमचन्द के शब्दों में–'एक बार की बात है, मैं घर आया। चार–पाँच दिन घर रहा। जिस रोज मुझे वापस जाना था, चाची से रूपये माँगे। चाची बोलीं, रूपये खर्च हो गए।' गाँव में किस से उधार लेता। गाड़ी के बहुत पहले मैं और विजयबहादुर चल दिए। एक साल पहले मैंने बड़ी मुश्किलों से एक गरम कोट बनवाया था। मगर जाड़ों में भी सूती पहन कर उसे बड़े जतन से रक्खा था। अब उसे शहर में दो रूपये में बेचा। तब मैं और विजयबहादुर चुनारगढ़ पहुँचे।' समाज के दकियानूसी बंधनों को इन्होंने कभी भी स्वीकार नहीं किया। इसीलिए घरवालों की मर्जी के खिलाफ अपना दूसरा विवाह किया जो विधवा विवाह था। 1909 में प्रेमचन्द सबडिप्टी इंस्पेक्टर ऑफ स्कूल के पद पर नियुक्त हुए। लेकिन सबडिप्टी इंस्पेक्टर ऑफ स्कूल बनकर भी अफसरी से वे बहुत दूर रहे। उनका कहना था कि अफसर बनकर इन्सान, इन्सान नहीं रह जाता। ईश्वर मुझे इससे हमेशा दूर रक्खे। ऐसे महत्वपूर्ण पद पर होते हुए भी उन्होंने कभी रिश्वत नहीं ली। इसके वे हमेशा विरोधी रहे। भारतीय शिक्षा नीति से उन्हें हमेशा असंतोष रहा। इसका प्रमाण है मई–जून 1909 ई0 में उनका लिखा गया 'यू0 पी0 में इब्तिदाई तालीम' नामक लेख जिसमें उन्होंने तत्कालीन

शिक्षा पद्धति की कमजोरियों का पर्दाफाश किया है। एक अंश यहाँ उद्धृत है–

'लोअर और प्राइमरी मदरसों की हालत बहुत रद्दी है। उन्हें देखकर मवेशीखाना मोहताजखाना का खयाल पैदा होता है। दीवारें बोसीदा, दरवाजे शिकस्ताहाल, छतें गिरी हुई, फर्श जमीन कच्ची। यहाँ भी रिश्वत और गबन की गर्म बाजारी है।

1909 ई0 में ही उनका कहानी संग्रह 'सोजे वतन' अंग्रेज सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया जिसने प्रेमचन्द के मन में अंग्रेज सरकार के प्रति और घृणा उत्पन्न कर दी । इस संदर्भ में मुंशी दयानारायण निगम ने लिखा है – 'जहाँ तक मैं समझता हूँ यह खयाल उनके जहन नशीन हो गया था कि जब अंग्रेज हम हिन्दुस्तानियों से बिल्कुल अलग–थलग रहते हैं तो हम लोगों को भी उनसे दूर रहना चाहिए । कौमी खुद्दारी के वह बहुत हामी थे और अदबी जिन्दगी के इब्तदाई जमीन में सरकारी अफसरान ने उनके साथ जो नामुन्सिफाना बरताव किया, उसका असर उनके दिल से कभी जाइल नहीं हुआ ।

इसी कारण प्रेमचन्द सरकारी नौकरी छोड़कर पत्रकार बनने की बात सोचने लगे । इस बीच उनका तबादला गोरखपुर के नार्मल स्कूल में हुआ। ठीक इसी समय गांधी जी का असहयोग आन्दोलन जोरों पर था । उनके गोरखपुर पधारने पर प्रेमचन्द उनके विचारों से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया । इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने एक मित्र को बताया – मैं भली भाँति समझ गया था कि सरकारी नौकरी में जीहुजूरी और पोचपने के सिवा कुछ नहीं है । आत्मसम्मान, आत्मज्ञान, आत्मनिर्भरता और आत्मविश्वास का तो यहाँ चूहे–बिल्ली का सम्बन्ध है। परिस्थिति से लाचार होकर पहले तो मैं इस विष घूंट को पीकर इसी की ज्वाला दबाता रहा पर असहयोग आन्दोलन की हवा लगते ही वह हठात् भभक उठी । मैंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया और असहयोग आन्दोलन का एक सैनिक बना।' प्रेमचन्द का झुकाव कांग्रेस के गरम दल की ओर था। उनकी यह स्पष्ट धारणा थी कि बिना लड़े हमें स्वराज्य की प्राप्ति नहीं हो सकती । इसी बीच उनकी एक कहानी छपी – 'मन्दिर और मस्जिद' जिसमें उन्होंने हिन्दू और मुसलमान दोनों की पोल खोली । उर्दू समाचार पत्रों ने इसका बड़ा विरोध किया । इस सन्दर्भ में प्रेमचन्द का दयानारायण निगम को

लिखा गया एक पत्र देखें– 'इस मजमूर में किसी को शिकायत का क्या मौका है? फिरकापरस्तों की जहनीयत का पर्दाफाश किया गया है। बिला किसी रू–ओ–रिआयत के एक तरफ हिन्दू पण्डितों और पुजारियों की मजहब परस्ती का नज्जारा है, दूसरी जानिब मौलवियों की मजहब परवरी का। दोनों मजहब के पर्दे में अपनी–अपनी नफसपरवरी के शिकार हो रहे हैं । अगर कुछ लोगों को बुरा लगता है तो मेरा क्या अख्तियार है।'

उनकी एक कहानी 'मोटेराम शास्त्री'–जो माधुरी के जनवरी 1928 के अंक में छपी–पर मानहानि का केस चलाया गया । यह एक व्यंग्यात्मक कहानी थी जिसमें दकियानूसी वैद्यों का मजाक उड़ाया गया है । इसी पर लखनऊ के एक वैद्य शालिगराम शास्त्री ने कृष्णबिहारी मिश्र तथा प्रेमचन्द पर आइ0पी0सी0 500 तथा 109 धाराओं के अन्तर्गत इज्जत–हतक का दावा दायर किया ।

राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़े रहने के कारण प्रेमचन्द की इस काल की रचनाएँ भी राष्ट्रीयता के गुणों से ओत–प्रोत रहती थीं फिर भी उनकी बिक्री सन्तोष जनक नहीं होती थी । इस संदर्भ में 1928 के एक अंग्रेजी पत्र में प्रेमचन्द ने लिखा– 'भारत में साहित्यिक जीवन निराशाजनक है। पाठकगण परवाह ही नहीं करते । आप अपने दिल को फाड़कर रख दें परन्तु पाठकगण के कानों पर जूं नही रेंगती । शायद ही मेरी कोई कृति हो जिसका तीसरा संस्करण निकला हो । कुछ का अभी तक एक ही संस्करण निकला है। हमारे देहातों की जनता गरीब और मूढ़ है। जो पढ़े लिखे लोग हैं वे यूरोपीय साहित्य खरीदते हैं । लचर किताबें तो एकदम बिक जाती हैं। मेरी किताबों की प्रशंसा तो होती है परन्तु ये खरीदी नहीं जातीं।' सामाजिक रूढ़ियाँ एवं पारम्परिक मान्यताएँ भी उन्हें कतई मान्य नहीं थी। वह चाहे कन्या दान ही क्यों न हो । लड़की कमला की शादी हुई पर उन्होंने न तो द्वार पूजा की रस्म अदा की और न कन्यादान ही किया। उनका कहना था – कैसा दान – बेजान चीज दान में दी जाती है । जानदार चीजों में केवल गौ ही दान में दी जा सकती है । फिर लड़की का कैसा दान ? मुझे वह पसन्द नहीं है । शिवरानी़ देवी का कथन–विवाह के सकुशल होने में कोई सन्देह न था, लेकिन इन महाशय के आगे मेरी एक न चलती थी – यह प्रथा निंदनीय है, यह रस्म निरर्थक है । यहाँ रूपये की क्या जरूरत? यहाँ गीतों का क्या काम ? नाक में दम था । यह क्यों ? वह क्यों ? यह तो साफ दहेज है । तुमने मेरे मुंह में कालिख लगा दी, मेरी आबरू मिटा दी।

जरा सोचिए इस परिस्थिति को कि बारात द्वार पर खड़ी हुई है और वहाँ बात–बात पर शास्त्रार्थ हो रहा है। विवाह का मुहूर्त आधी रात के बाद था। प्रथानुसार मैंने व्रत रक्खा किन्तु आपकी टेक थी कि व्रत की कोई जरूरत नहीं है। जब लड़के के माता–पिता व्रत नहीं रखते, जब लड़का तक व्रत नहीं रखता तो कन्या पक्ष वाले ही व्रत क्यों रखें ? मैं और सारा खानदान मना करते रहे लेकिन आपने नाश्ता किया, भोजन किया। खैर कन्यादान का मुहूर्त आया । आप सदैव से इस प्रथा के विरोधी हैं । आप इसे निखिद समझते हैं । कन्या क्या दान की वस्तु है? दान रूपये–पैसे, जगह–जमीन का हो सकता है, पशु दान भी होता है। लेकिन लड़की का दान यह एक लचर सी बात है।' यहाँ तक कि भगवान के बारे में भी वे संदेह व्यक्त करते हैं–भगवान तो मन का भूत है जो इन्सान को कमजोर बना देता है। वास्तव में यहाँ उनकी खीझ व्यक्त है । वे कहते हैं जो भी आज धर्म के नाम पर हो रहा है सब अंधविश्वास है । यह सब मूर्खों के बहकाने के तरीके हैं । क्रिया–करम और पिंडे–पानी की रस्म का भी वे विरोध करते थे–'मैं क्रिया–करम की रस्म को नापसंद करता हूँ । हमारा पिंडे पानी में विश्वास नहीं है।' सरकार ने एकबार उन्हें राय साहब की उपाधि देने का निश्चय किया जिसे प्रेमचन्द ने अस्वीकार कर दिया । उन्होंने कहा– मैं जनता का तुच्छ सेवक हूँ, अगर जनता की रायसाहबी मिलेगी तो सिर आँखों पर । गवर्नमेण्ट की रायसाहबी की इच्छा नहीं।

शहरी जीवन भी उन्हें रास नहीं आया। उन्हीं के शब्दों में–यह शहरी जीवन जहाँ मुझे फँसकर बैठना पड़ रहा है मानसिक तथा भावात्मकता के विकास के लिए घातक है । मेरी बड़ी से बड़ी आकांक्षा है देहात में बैठकर शांतिमय जीवन बिताऊं।' लेखन के क्षेत्र में भी उन्हें बराबर झटका लगता रहा । 1932 में सरस्वती प्रेस और जागरण से 'उसका अंत' नाम की कहानी के दण्ड के रूप में दो हजार रूपये की जमानत माँगी गई । अपनी कहानियों में ब्राह्मणों का मजाक उड़ाने के कारण भी उन्हें कई लोगों का कोप भाजन बनना पड़ा । उनका मजाक उड़ाया गया, उनकी कहानियों की कटु आलोचना की गई तथा उन्हें घृणा का प्रचारक बताया गया । यद्यपि प्रेमचन्द ने अध्यापन का कार्य छोड़कर पत्रकारिता का जीवन अपना लिया था लेकिन इसमें वे और ज्यादा ही परेशान रहे । उनके जीवन का अन्तिम समय इन्हीं उलझनों में बीता । प्रेस से वे पूर्णतः निराश हो चुके थे । उन्हीं के शब्दों में – सारी विपत्ति की जड़ तो यह प्रेस है । जाने किस बुरी साइत

में उसकी बुनियाद पड़ी थी । दस हजार रूपया और ग्यारह साल की मेहनत और परेशानियाँ अकारथ हो गईं । इसी प्रेस के पीछे कितने मित्रों से बुरा बना, कितनों से वायदा खिलाफी की, कितना बहुमूल्य समय जो लिखने–पढ़ने में कटता, बेकार प्रूफ देखने में कटा । मेरी जिन्दगी की यह सबसे बड़ी गलती है।' और फिर इसी से निराश होकर उन्हें फिल्मी दुनिया में जाना पड़ा । लेकिन उनके विद्रोही मन ने वहाँ की परिस्थितियों से तालमेल करना इन्कार कर दिया । फलतः बनारस वापस आना पड़ा । बनारस ने भी उन्हें कुछ कम कष्ट नहीं दिया। वहाँ के सम्बन्ध में उन्होंने जैनेन्द्र को अपने एक पत्र में लिखा है – काशी में न तो काम है और न साहित्य वालों का सहयोग । वहाँ जितने हैं वह सभी सम्राट हैं, कोई कवि सम्राट, कोई आलोचना सम्राट, कोई प्रहसन सम्राट । यह गौरव तो काशी ही को है कि वहाँ सभी सम्राट मौजूद हैं ।

मगर सम्राटों की सम्राटों से कैसे पटेगी ? शिष्टाचार की बात और है, हार्दिक सहयोग की बात और । मुझे डर लग रहा है कि कहीं तुम भी साल छः महीने में सम्राट हो जाओ तो मेरा काम ही तमाम हो जाए । फिर तुमसे कोई लेख माँगने का साहस भी न कर सकूँ । इसीलिए अब प्रयाग जा रहा हूँ जहाँ सम्राट कम हैं।" साहित्य सम्राटों के साथ ही लक्ष्मी पुत्रों से भी उनका हमेशा बैर रहा । उनका साफ कहना था कि – "कोई भी बड़ा आदमी जिस पर लक्ष्मी की कृपा हो, मुझे अपनी ओर आकर्षित नहीं करता।" वस्तुतः इसमें उनके जीवन की असफलताओं का प्रभाव है। जीवन की यही असफलताएँ उनमें एक खास किस्म का आक्रोश पैदा कर देती हैं और साहित्यकार प्रेमचन्द अन्त तक आते–आते विद्रोही हो जाते हैं। उन्होंने कभी जो सपना देखा था कि देश आजाद होगा और किसानों, मजदूरों का राज्य होगा वह सपना अब उन्हें पूरा होता नजर नहीं आ रहा था । वे स्पष्ट देख रहे थे कि एक नये किस्म के पूँजी पति जमींदार शासन पर हावी होने लगे हैं और अपना प्रभुत्व जमाना शुरू कर दिए हैं । देश की आजादी का जो मकसद लोगों के दिमाग में था वह अर्थहीन होता जा रहा है और लोग अपने–अपने स्वार्थों से जुड़ते जा रहे है । प्रेमचन्द को इससे जबर्दस्त झटका लगा। इस झटके का प्रभाव उनके साहित्य पर भी पड़ा । उनकी बाद की रचनाएँ–जैसा मैंने पहले कहा है, वे चाहे उपन्यास हों या कहानियाँ बिल्कुल अलग ढंग की हैं जिनका पिछली रचनाओं से बिल्कुल तालमेल नही है और जिनमें विद्रोह का स्वर प्रमुख है । वस्तुतः यहाँ आकर प्रेमचन्द मूल्यों

की एक नई व्याख्या प्रस्तुत करते हैं । यहाँ हम उनकी केवल दो कहानियों 'कफन' और 'पूस की रात' की ही चर्चा करेंगे।

'कफन' के माध्यम से प्रेमचन्द ने समाज के एक ऐसे वर्ग का चित्रण किया है जो शोषित है, अछूत है, बहिष्कृत है, परावलम्बी बनने के लिए मजबूर है साथ ही जिसकी नियति है मार खाना, गाली सुनना और कर्ज से लदे रहना । घीसू और माधव ऐसे ही वर्ग के प्रतिनिधि हैं । ये मेहनत कश किसान नहीं बल्कि जाहिल, कामचोर और मक्कार मजदूर हैं । आध घंटे काम करेंगे तो घंटे भर चिलम फूँकेंगे, घर में मुट्ठी भर भी अनाज हो तो उन्हें काम करने की कसम है । दो चार फाके हो जाने पर पेड़ पर चढ़कर लकड़ियाँ तोड़ लायेंगे और उसे बाजार में बेच देंगे । फिर जब तक पास में पैसे रहेंगे इधर–उधर मारे–मारे फिरेंगे, जब फिर फाके की नौबत आ जायेगी तो फिर वही धन्धा शुरू कर देंगे। यही इनकी नियति भी है क्योंकि ये जानते हैं कि इस समाज में दिन–रात मेहनत करने वालों की हालत भी उनकी हालत से अच्छी नहीं है । उन्हें अपनी स्थिति से संतोष है – "अगर वे फटेहाल हैं तो कम से कम उन किसानों की तरह जी तोड़ मेहनत तो नहीं करनी पड़ती। उनकी सरलता और निरीहता से दूसरे लोग बेजा फायदा तो नहीं उठाते।"

वस्तुतः घीसू और माधव का यह निकम्मापन उस क्रूर, सामंती और शोषक समाज के मुँह पर एक करारा तमाचा है जो निरीह किसानों और मजदूरों के रक्त का शोषण करता हुआ ऐशो–आराम का जीवन व्यतीत कर रहा है । यदि यह वर्ग बिना हाथ–पाँव हिलाये केवल छल–प्रपंच के बल पर ही दूसरों की कमाई पर गुलछर्रे उड़ाना अपना धर्म मानता है तो घीसू और माधव भी दिन रात परिश्रम करने के बदले केवल काम चोरी और मक्कारी करना अपना धर्म मानते हैं । नैतिकता बार – बार इनसे पनाह माँग कर थक चुकी है । ये भी आदर्श और नैतिकता को ताक पर रख देते हैं क्योंकि यह तो अमीरों की चीज है । तभी तो माधव की पत्नी बुधिया घर के अन्दर प्रसव वेदना से पछाड़ खा रही है और ये बाप बेटे अलाव के पास बैठकर आलू भून कर खा रहे हैं । बुधिया की असह्य पीड़ा इनके दिल को नहीं झकझोरती बल्कि पेट की आग झकझोरती है । तभी तो माधव कोठरी में जाने से इसलिए डरता है कि अगर वह अन्दर गया तो घीसू आलुओं का बड़ा भाग साफ कर देगा । वे बुधिया के मरने पर कफन के रूपये इसलिए चट कर जाते हैं कि यह तो बुरा रिवाज है । कफन लाश

के साथ जल ही तो जाता है । और फिर जिसके पास धन हो वे फूंकें । हमारे पास फूंकने को क्या है ? वस्तुतः यहाँ कथाकार प्रेमचन्द का विद्रोही तेवर दिखलाई पड़ता है और वे कफन की अनिवार्यता को नकारते हैं । परलोक के नाम पर धर्म के ठेकेदारों द्वारा फैलाये गये वितण्डावातों से उन्हें सख्त नफरत है और सख्त नफरत है उन्हें ऐसे समाज से जो जीते जी तन का कपड़ा भी छीन लेना चाहता है लेकिन मरने पर नये कफन की माँग करता है । घीसू और माधव इसीलिए कफन की जिम्मेदारी भी उसी जालिम समाज पर छोड़ देना चाहते हैं जो जीते जी तन पर कफन नहीं रहने देना चाहता । वस्तुतः यहीं आकर प्रेमचन्द अपने जीवन और अनुभव की सच्ची गहराई का रोमांचक संघर्ष कथामंच पर उद्घाटित करते हैं । घीसू और माधव की शोषक समाज के प्रति अभिव्यक्त खीझ और अकुलाहट कथाकार प्रेमचन्द की भी खीझ और अकुलाहट है । ऐसा वर्ग जो गरीबों का माल बटोरने में किफायत नहीं करता लेकिन खर्च करने में किफायत करता है प्रेमचन्द उसके दुश्मन हैं । उन्हें ऐसे लोगों से भी नफरत है जो गरीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं और अपने पाप को धोने के लिए गंगा में नहाते और मन्दिरों में जल चढ़ाते हैं ।

विद्रोही प्रेमचन्द का यही तेवर उनकी कहानी 'पूस की रात' में भी दिखाई पड़ता है । यहाँ उनका विद्रोह कृषकीय नियति से है । वे उस खेती को बेकार साबित कर देना चाहते हैं जिसमें मर – मर कर काम करने पर भी खाने भर को अन्न न मिले और उपज हो तो बाकी दे दी जाय । ऐसी खेती से मजदूरी अच्छी है जिसमें सुख से एक रोटी तो खाने को मिलती है । संभवतः इसीलिए प्रेमचन्द ने 'गोदान' में होरी को कृषक से मजदूर होते हुए दिखाया है । हल्कू मजदूरी करके एक–एक पैसा काटकर तीन रूपये कम्बल के लिए जमा करता है और सहना आकर उसे उगाह ले जाता है। हल्कू यह जानते हुए भी कि पूस सिर पर आ गया है और कम्बल के बिना हार में रात को सोना किसी तरह सम्भव नही है कम्बल के पैसे सहना को दे देता है क्योंकि उसे डर है कि यदि वह पैसा नहीं देगा तो सहना उसे गालियां सुनायेगा । यद्यपि हल्कू की पत्नी मुन्नी कहती है कि – "गाली क्यों देगा क्या उसका राज है?" लेकिन तुरन्त उसे अपनी गलती का अहसास होता है कि अभी राज तो सहना जैसे लोगों का ही है । जो एक बार बाकी देते हैं और जिन्दगी भर– यहां तक कि पुश्त दर पुश्त–वसूल करते हैं । उसे इस बाकी से बहुत चिढ़ है तभी तो वह कहती है – "न जाने

कितनी बाकी है जो किसी तरह चुकने में ही नहीं आती । मर–मर कर काम करो उपज हो तो बाकी दे दो, चलो छुट्टी हुई । बाकी चुकाने के लिए ही तो हमारा जन्म हुआ है।" उसे अपनी इस स्थिति से असंतोष होता है और वह इसके खिलाफ संघर्ष करती है । वह हल्कू से ऐसी खेती से बाज आने के लिए कहती है और पेट के लिए मजदूरी करने को कहती है । वह ऐसी खेती नहीं चाहती जिसमें मजदूरी करके लाओ वह भी झोंक दो । वह हल्कू से स्पष्ट शब्दों में कहती है – तुम छोड़ दो खेती । मजूरी में सुख से एक रोटी खाने को तो मिलेगी । किसी की धौंस तो न रहेगी।" और हल्कू पर इसका वाजिब असर पड़ता है । वह अपनी पत्नी के विचारों से प्रभावित होता है। तभी तो वह पूस की भयानक ठंडी रात में नीलगायों द्वारा खेत चरे जाने की आहट पाकर भी अपनी जगह से हिलना पसन्द नहीं करता । उधर नीलगायें खेत का सफाया किये डालती हैं और इधर हल्कू यह जानते हुए भी गर्म राख के पास शांत बैठा रहता है। अकर्मण्यता ने रस्सियों की भाँति उसे चारों तरफ से जकड़ रखा है । वास्तव में हल्कू की यह अकर्मण्यता ही उसका विद्रोह है । वह ऐसी खेती की रखवाली क्यों करे जिससे पेट तक भरना मुश्किल हो और सहना के ताने ऊपर से सुनने पड़ें। वह मजदूरी करेगा । इससे कम से कम उसे पूस की रात में हार में सोना तो न पड़ेगा । इसीलिए नीलगायों द्वारा खेत के चरे जाने पर जहाँ मुन्नी के मुख पर उदासी छायी थी, वहीं हल्कू प्रसन्न था । वह खेती का मजा ले चुका था । उसे ऐसी खेती से सख्त नफरत हो जाती है जिसमें मजदूरी तो वह करे पर मजा दूसरे लोग लूटें । हालांकि इसमें वह तकदीर की खूबी मानता है। तभी तो पूस की रात में खेत अगोरते हुए और ठंड से काँपते हुए वह कहता है – " यह खेती का मजा है । और एक भागवान ऐसे पड़े हैं, जिनके पास जाड़ा जाये तो गरमी से घबड़ाकर भागे । मोटे–मोटे गद्दे, लिहाफ, कंबल । मजाल है, जाड़े का गुजर हो जाये । तकदीर की खूबी है । मजूरी हम करें, मजा दूसरे लूटें ।" तकदीर की खूबी मानते हुए भी उसके अन्दर मज़ा लूटने वाले वर्ग के प्रति एक तिलमिलाहट है, एक आक्रोश है। यह तिलमिलाहट और आक्रोश हल्कू से अधिक उसकी पत्नी मुन्नी के अन्दर है, जैसा कि ऊपर आप देख चुके हैं । वास्तव में प्रेमचन्द के नारी पात्रों के अन्दर पुरूषों की अपेक्षा अधिक आक्रोश है । वह चाहे गोदान की धनिया हो या पूस की रात की मुन्नी'। अपने इन नारी पात्रों के माध्यम से प्रेमचन्द ने जातीय चेतना को मुखरित करने की कोशिश की है।

प्रेमचन्द के इन नारी पात्रों से पुरूष वर्ग को भी बड़ा बल मिलता है । पूस की रात इस बात का प्रमाण है । इसमें मुन्नी के माध्यम से ही हल्कू के अन्दर विद्रोही चेतना का संचार होता है । इसके पहले हल्कू एक दीन–हीन कृषक के रूप में ही हमारे सामने आता है । वस्तुतः यहाँ तक आते– आते प्रेमचन्द यह समझ गये थे कि पुरूषों की मानसिकता अभी भी गुलामी की ही है । हाँ, नारियाँ इस दिशा में आगे कार्य कर सकती हैं। संभवतः इसीलिए उन्होंने नारी जागरण को महत्ता प्रदान की है । अतः स्पष्ट है कि अपनी इन अन्तिम कहानियों के माध्यम से कथाकार विद्रोही प्रेमचन्द ने एक नये तेवर को जन्म दिया है, जो विद्रोह का तेवर है। साथ ही उनके सतत् संघर्षों का परिणाम भी है ।

15

आचार्य शुक्ल की साहित्येतिहास-दृष्टि और उसका मूल्यांकन

आचार्य शुक्ल का इतिहास एक विकसनशील इतिहास है जिसका लेखन 1929 से 1940 तक निरन्तर होता रहा। आगे भी वे इसमें संशोधन–परिवर्द्धन करना चाहते थे, पर 1941 ई0 में उनका निधन हो गया और यह कार्य अधूरा ही रह गया । आचार्य शुक्ल की ही सूचना के अनुसार इसका प्रारूप उन्होंने छात्रों के उपयोग के लिए संक्षिप्त नोट्स के रूप में तैयार किया था, जिसके अन्तर्गत उन्होंने परिस्थिति के अनुसार शिक्षित जनसमूह की बदलती हुई प्रवृत्तियों को लक्ष्य करके हिन्दी साहित्य के इतिहास के काल–विभाग और रचना की भिन्न–भिन्न शाखाओं के निरूपण का एक ढाँचा खड़ा किया था । बाद में जब 'हिन्दी शब्दसागर' की भूमिका के रूप में 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' प्रस्तुत करने की योजना बनी तो शुक्ल जी ने अपने इस नोट्स को इतिहास का रूप दिया जो 1929 ई0 में 'हिन्दी साहित्य का विकास' नाम से प्रकाशित हुआ । यह कार्य अत्यन्त शीघ्रता में हुआ इस कारण इसमें काफी कमियाँ रह गयीं। बहुत सी सामग्री भी छूट गयी । कोश के लिए लिखा जाने के कारण इसकी अपनी सीमाएँ भी थीं। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर उन्होंने इसे व्यवस्थित रूप प्रदान किया और उसी वर्ष (1929) इसे 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित कराया । शुक्ल जी अपने इस ग्रंथ में लगातार संशोधन–परिवर्द्धन करते रहे। इसका द्वितीय संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण 1940 में निकला । शुक्ल जी के निधन के बाद भी इसके संशोधित–परिवर्द्धित संस्करण निकलते रहे। पर उनके संशोधन–परिवर्द्धन का क्या आधार रहा है, यह अनुसंधान का विषय है।

शुक्ल जी ने अपने साहित्येतिहास लेखन में पूर्ववर्ती इतिहास ग्रंथों से पर्याप्त सहायता ली है। कवियों के परिचयात्मक विवरण उन्होंने 'मिश्र बंधु विनोद' से लिये । कालविभाजन एवं युग–प्रवृत्तियों का विवेचन उन्होंने ग्रियर्सन के आधार पर किया। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी द्वारा प्रकाशित खोज रिपोर्टों का भी उन्होंने आवश्यकतानुसार उपयोग किया । इसके साथ ही 'हिन्दी कोविद रत्न माला', 'कविता कौमुदी, तथा 'ब्रजमाधुरी सार' से भी

सहायता ली । पर इस आधार भूत सामग्री का उन्होंने एक सीमा तक ही उपयोग किया है। अपने लेखन क्रम में उन्होंने साहित्येतिहास सम्बन्धी पाश्चात्य अवधारणाओं का भी अध्ययन किया और यथास्थान उन्हें अपने इतिहास लेखन का आधार भी बनाया ।

साहित्येतिहास को उन्होंने इस रूप में परिभाषित किया है– "जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ–साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है । आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य परम्परा के साथ उसका सामंजस्य दिखाना ही साहित्य का इतिहास कहलाता है।

(प्रथम संस्करण का वक्तव्य, पृ0 1)

शुक्ल जी का मानना है कि जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साहित्येतिहास में आवश्यक होता है। इस दृष्टि से साहित्य का विवेचन करने में इस बात को भी ध्यान में रखना होगा कि किस समय में लोगों में रुचि विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार से हुआ ।

(द्रष्टव्य–प्रथम संस्करण का वक्तव्य, पृ0–3)

साहित्येतिहास सम्बन्धी उनके इन विचारों से किसी का कोई मतभेद नहीं है।

आचार्य शुक्ल के इतिहास की एक सबसे बड़ी विशेषता है उनका काल विभाजन और उसका आधार । उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी इतिहास ग्रंथों के कालविभाजनों का न सिर्फ गहन अध्ययन किया अपितु उनके गुण–दोषों पर भी विचार किया । यहाँ तक कि उन्होंने मिश्रबन्धुओं के काल विभाजन की भी आलोचना की । शुक्ल जी ने अपना विभाजन एक पुष्ट आधार पर किया एवं उसके कारण भी प्रस्तुत किये । उन्होंने वर्गीकरण के दो आधार लिए हैं –

1. रचना की प्रचुरता
2. ग्रंथों की प्रसिद्धि

रचना की प्रचुरता

"जिस कालखंड के भीतर किसी विशेष ढंग की रचनाओं की प्रचुरता दिखायी पड़ी है, वह एक अलग काल माना गया है और उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के स्वरूप के अनुसार किया गया है। किसी एक ढंग की रचना की प्रचुरता से अभिप्राय यह है कि शेष दूसरे ढंग की रचनाओं में से चाहे किसी (एक) ढंग की रचना को लें, वह परिमाण में प्रथम के बराबर न होगी, यह नहीं कि और सब ढंगों की रचनाएं मिलकर भी उसके बराबर न होंगी। जैसे यदि किसी काल में पाँच ढंग की रचनाएं 10, 5, 6, 7, 2 के क्रम से मिलती हैं तो जिस ढंग की रचना की 10 पुस्तकें हैं उसकी प्रचुरता कही जाएगी, यद्यपि शेष और ढंग की सब पुस्तकें मिलकर 20 हैं।"

(प्रथम संस्करण का वक्तव्य, पृ0–2)

ग्रंथों की प्रसिद्धि

"दूसरी बात है ग्रंथों की प्रसिद्धि । किसी काल के भीतर जिस एक ढंग की बहुत अधिक पुस्तकें प्रसिद्ध चली आती हैं, उस ढंग की रचना उस काल के लक्षण के अन्तर्गत मानी जाएगी, चाहे और दूसरे–दूसरे ढंग की अप्रसिद्ध और साधारण कोटि की बहुत सी पुस्तकें भी इधर–उधर कोनों में पड़ी मिल जाया करें । प्रसिद्धि भी किसी काल की लोक प्रवृत्ति की प्रतिध्वनि है।"

(प्रथम संस्करण का वक्तव्य, पृ0–2)

आगे भी शुक्ल जी ने अपने सिद्धान्तों का स्पष्ट प्रतिपादन किया है। उनका मत है कि बिना स्पष्ट भेद के काल विभाजन सम्भव नहीं है। जैसे– "एक ही काल और एक ही कोटि की रचना के भीतर जहाँ भिन्न–भिन्न प्रकार की परम्पराएँ चली हुई पायी गयी हैं वहाँ अलग–अलग शाखाएँ करके सामग्री का विभाग किया गया है। .... इन धाराओं और शाखाओं की प्रतिष्ठा यों ही मनमाने ढंग से नहीं की गई है। उनकी एक दूसरी से अलग करने वाली विशेषताएं अच्छी तरह से दिखाई भी गई हैं और देखते ही ध्यान में आ भी जाएंगी ।"

(प्रथम संस्करण का वक्तव्य)

कुछ विद्वानों ने आचार्य शुक्ल के इस आधार की आलोचना की है। उनका मत है कि आधार ग्रंथ संख्या को मानना, विवादास्पद ही नहीं संदेहास्पद भी है। किसी काल का नामकरण केवल इसलिए एक हो जाय कि दूसरे प्रकार की रचनाएं संख्या में चाहे एक ही क्यों न हो– कम थीं, समझ में नहीं आता। डा0 गणपति चन्द्र गुप्त के अनुसार–'यदि एक टोकरी में पचास आम, बीस केले और दस संतरे हों तो प्रमुखता के आधार पर उसे आम की टोकरी कहना अवैज्ञानिक है, वैज्ञानिक दृष्टि से 'फलों की टोकरी' कहना उचित होगा।''

(हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, प्राक्कथन, प्रथम संस्करण की भूमिका पृ0–viii)

डा0 सुमन राजे के अनुसार– ''यदि मान लिया जाए कि किसी काल विशेष में दो वर्ग की रचनाएं हैं– 'अ' और 'ब' । 'अ' में 50 रचनाएँ उपलब्ध हैं, 'ब' में 49। इसलिए नामकरण 'अ' की प्रवृत्ति के आधार पर हो जाता है। फिर अनुसंधान के कारण 'ब' वर्ग की रचनाओं में 2 कृतियों की वृद्धि होती है तो नामकरण 'ब' वर्ग की प्रवृत्ति के अनुसार होगा। फिर 'अ' वर्ग की 2 रचनाएं मिल जाती हैं तो नाम फिर बदलकर 'अ' वर्ग का हो जाएगा। नाम न हो गया मन्त्रिपरिषद का चुनाव हो गया। इस प्रकार के अस्थायी काल विभाजन का ऐतिहासिक मूल्य क्या हो सकता है?''

(साहित्येतिहास : संरचना और स्वरूप, पृ0–170)

शुक्ल जी भी संभवतः इस पद्धति की सीमा से परिचित थे, तभी उन्होंने इसका प्रयोग सिर्फ वीरगाथाकाल के नामकरण में ही किया, और वह नामकरण कितना अप्रमाणिक सिद्ध हो चुका है यह किसी से छिपा नहीं है।

शुक्ल जी का ग्रंथों की लोकप्रसिद्धि का सिद्धान्त भी अपूर्ण है। लोकप्रसिद्धि को नापने का पैमाना क्या हो यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया । ऐसे में व्यक्तिगत अभिरुचि को महत्त्व मिलने का खतरा बना रहता है जैसा कि शुक्ल जी के साथ भी हुआ । उन्होंने वीरगाथाकाल से सम्पूर्ण जैन, बौद्ध तथा धार्मिक साहित्य को असाहित्यिक कहकर खारिज कर दिया ।

शुक्ल जी का विभाजन

आदिकाल 1. अपभ्रंश काव्य
2. देशभाषा काव्य – वीरगाथाकाल (1050 – 1375 वि0)
– फुटकल रचनाएँ

मध्यकाल अ. पूर्वमध्यकाल – भक्तिकाल (1375 – 1700 वि0)
1. निर्गुण धारा – ज्ञानाश्रयी शाखा
2. निर्गुण धारा – प्रेममार्गी (सूफी) शाखा
3. सगुण धारा – रामभक्ति शाखा
4. सगुण धारा – कृष्णभक्ति शाखा
– फुटकल रचनाएँ
ब. उत्तर मध्यकाल – रीतिकाल (1700 – 1900 वि0)

आधुनिक काल गद्य खण्ड (1900 – 1980 वि0)
1. गद्य का आविर्भाव 2. गद्य का प्रवर्तन
3. गद्य का प्रवर्तन (प्रथम उत्थान)
4. गद्य का प्रसार (द्वितीय उत्थान)
5. गद्य की वर्तमान गति (तृतीय उत्थान)
काव्य खण्ड (1900 वि0 से)
1. पुरानी धारा 2. नयी धारा
(i) प्रथम उत्थान (1925–50 वि0)
3. नयी धारा (ii)द्वितीय उत्थान (1950–75 वि0)
4. नयी धारा (iii)तृतीय उत्थान (1975 वि0 से)

उपर्युक्त विवेचन को गहराई से देखें तो पता चलता है कि शुक्ल जी ने काल विभाजन में दोहरा आधार अपनाया है। एक तो काल सापेक्ष और दूसरा प्रवृत्ति सापेक्ष । इसके साथ ही उन्होंने रस (वीर गाथा काल), साधना (भक्तिकाल), सम्प्रदाय (रामभक्ति शाखा, कृष्ण भक्ति शाखा, सूफी शाखा) पद्धति (रीतिकाल), काव्यभेद (गद्यकाल) तथा कालखण्ड (प्रथम उत्थान, द्वितीय उत्थान, तृतीय उत्थान) को भी विभाजन का आधार बनाया है। इससे यह कहा जा सकता है कि शुक्लजी काल विभाजन के दोषों से सर्वथा मुक्त नहीं हो सके हैं। इतना होने के बावजूद किसी को यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि शुक्ल जी ने कालविभाजन एवं नामकरण के आधार स्वयं खोजे हैं और इसकी अपनी एक पद्धति निर्मित की है। यही

उनकी सबसे बड़ी विशेषता है और मौलिकता भी । वीरगाथाकाल को छोड़कर उनके सारे नाम आज स्वीकृत और मान्य हैं ।

अब हम आचार्य शुक्ल की इतिहास–दृष्टि पर विचार करेंगे । शुक्ल जी की चिन्तन पद्धति द्वन्द्वात्मक और विकासवादी है जिस पर विज्ञान का गहरा प्रभाव है। यही कारण है कि साहित्येतिहास लेखन में उनका दृष्टिकोण वस्तुवादी और भौतिकवादी बन गया है। इसी दृष्टि से उन्होंने अपने इतिहास को व्याख्यायित किया है।

प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन में उनका अलग दृष्टिकोण रहा है। "रचना उक्ति है अथवा काव्य ? यदि काव्य है तो प्रबन्ध है अथवा मुक्तक? यदि प्रबन्ध है तो प्रबन्धकार को कथा के मार्मिक स्थलों की पहचान है अथवा नहीं? उसमें लोकमंगल की भावना कहाँ तक है? कवि का प्रकृति निरीक्षण सूक्ष्म है अथवा स्थूल ? रचयिता का छंद विधान कहाँ तक परम्परा का ऋणी है और कहाँ तक स्वतंत्र ? पात्रों में शील और सौन्दर्य की मर्यादा है अथवा नहीं? राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियाँ उसे कहाँ तक प्रभावित कर सकी हैं? रचना लोकरुचि के अनुकूल है अथवा प्रतिकूल?"

(हिंदी साहित्य के इतिहास ग्रंथों का अध्ययन,
डा0 रूपचंद पारीक, पृ0–136)

जबकि आधुनिक काव्य का मूल्यांकन करते समय रचना की उपयोगिता–अनुपयोगिता तथा उस पर पड़ने वाले पश्चिमी प्रभाव पर उनकी दृष्टि रही है। इसके साथ ही कवियों की सूक्ष्म से सूक्ष्म विशेषताओं का भी उद्घाटन किया है। इसमें वे हमेशा सजग और सतर्क रहे तथा अपनी स्वस्थ दृष्टि का परिचय दिया।

पाश्चात्य साहित्यवादों की उन्हें गहरी जानकारी थी । खासकर स्वच्छन्दतावाद, प्रतीकवाद, अभिव्यंजनावाद, कला–कला के लिए, प्रभाववादी सम्प्रदाय, सत्यं शिवम् सुन्दरम् तथा फ्रायड का काम वासना का सिद्धान्त आदि। अपने इतिहास में उन्होंने यथा अवसर इन पर गम्भीर चर्चा की है। क्रोचे के अभिव्यंजनावाद की समीक्षा करते हुए उन्होंने लिखा है–"इस वाद में तथ्य इतना ही है कि उक्ति ही कविता है, उसके भीतर जो छिपा अर्थ रहता है वह स्वतः कविता नहीं।............ बात यह है कि अभिव्यंजनावाद भी कलावाद की तरह काव्य का लक्षण बेलबूटे की नक्काशी वाला सौन्दर्य

मानकर चला है, जिसका मार्मिकता अथवा भावुकता से कोई सम्बन्ध नहीं। और कलाओं को छोड़कर यदि हम काव्य ही को लें तो इस अभिव्यंजनावाद को वाग्वैचित्र्यवाद ही कह सकते हैं और इसे अपने यहाँ के पुराने 'वक्रोक्तिवाद' का विलायती उत्थान मान सकते हैं।

(हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0–497)

शुक्ल जी ने अपने इतिहास में विवेचन को प्रश्रय दिया है। विवरणों या ऐतिहासिक अभिलेखों के संग्रह की ओर उनकी दृष्टि कम ही रही। जो प्रसंग उन्हें रुचिकर लगे हैं उसका उन्होंने जमकर विवेचन किया है। ऐसे प्रसंगों में भक्ति की पृष्ठभूमि और गद्य के विकास को देखा जा सकता है। साहित्यिक प्रवृत्तियों की खोजबीन में भी उनकी प्रतिभा खूब चमकी है। कुल मिलाकर इतिहास लेखन में उनका विचारक और चिन्तक रूप ही अधिक सामने आया है। संभवतः यही कारण है कि उनका इतिहास आलोचना ग्रंथ होते हुए भी मौलिक साहित्य का सा आनन्द देता है।

आचार्य शुक्ल के समीक्षा सम्बन्धी अपने मानदण्ड रहे हैं जिनका प्रयोग उन्होंने अपने इतिहास लेखन में भी किया है। डा0 रामलाल सिंह ने अपने शोधग्रंथ 'आचार्य शुक्ल के समीक्षा सिद्धान्त' में इनकी विस्तार से चर्चा की है। जैसे –

1. लोक मंगल की कसौटी पर कवियों की परख।
2. सच्चे कवियों की कसौटी–लोकधर्म की पहचान।
3. लोकधर्म एवं लोकमंगल के विरुद्ध पड़ने वाले वादों का खंडन।
4. साहित्य को समाज की शक्ति मानना ।

अपने इन्हीं सिद्धान्तों के कारण उन्होंने तुलसी को हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ कवि माना जबकि रीतिकालीन कवियों की उपेक्षा की। प्रबन्ध काव्य को मुक्तक से श्रेष्ठ मानना उनकी इसी दृष्टि का परिणाम है।

शुक्ल जी की समीक्षा का आधारभूत सिद्धान्त रस सिद्धान्त है। अपने इतिहास की आलोचना में भी उन्होंने इसी सिद्धान्त को अपनाया । शुक्ल जी ने सिर्फ रस के काव्य को ही काव्य माना । रसहीन सर्जना को उन्होंने अपने इतिहास में स्थान नहीं दिया । नाथों–सिद्धों की रचनाओं में उन्हें रसहीनता ही दिखायी दी ।

साहित्येतिहास में सिर्फ व्यावहारिक आलोचना के लिए ही स्थान रहता है, पर शुक्ल जी ने जहाँ भी स्थान पाया है वहाँ सैद्धांतिक आलोचना की भी चर्चा की है। बिहारी की काव्यकला पर विचार करते हुए उन्होंने लिखा है– "मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है। मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं बहती, जिसमें कथा प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय कलिका थोड़ी देर के लिए खिल जाती है। यदिं प्रबन्ध काव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।"

(हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0–214)

शुक्ल जी गम्भीर प्रसंगों के बीच में कहीं–कहीं चुटीला व्यंग्य करते हैं । यहाँ उनका उद्देश्य विषय को नीरस और बोझिल होने से बचाना है। पर यह व्यंग्य कहीं–कहीं तीखा भी हो जाता है। मिश्र बन्धु, अयोध्या सिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पं0 महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा बाबू श्याम सुन्दर दास पर किये गए व्यंग्य इसी कोटि में आते हैं ।

विषय को सरस व रोचक बनाने के लिए उन्होंने कहीं–कहीं वैयक्तिक पुट भी दिया है। हालांकि इसके माध्यम से उन्होंने कोई नयी साहित्यिक सूचना ही दी है। जैसे, बालकृष्ण भट्ट की चर्चा करते हुए वे लिखते हैं– "एक बार वे (पं0 बाल कृष्ण भट्ट) मेरे घर पधारे थे । मेरा छोटा भाई आँखों पर हाथ रखे उन्हें दिखायी दिया । उन्होंने पूछा– "भैया, आँख में क्या हुआ है?", उत्तर मिला–आँख आयी है। वे चट बोल उठे– "भैया, यह आँख बड़ी बला है, इसका आना–जाना उठना–बैठना सब बुरा है।"

(हिन्दी साहित्य का इतिहास , पृ0–405)

अपने इतिहास में शुक्लजी की दृष्टि नयी–नयी खोजों की ओर रही है। जायसी को यदि उनका ही आविष्कार कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी । "भक्तिकाल को जन प्रवृत्ति का प्रवाह कहना और काल को उसका प्रवर्तक मानना उनकी विशिष्ट खोज़ और नई अर्थापत्ति है।"

(आचार्य शुक्ल़ की इतिहास दृष्टि, डा0 सूर्य प्रसाद दीक्षित,
हिंदुस्तानी पत्रिका, भाग – 44, अंक 3–4)

शुक्ल जी के इतिहास लेखन में वैचारिक दृढ़ता भी देखने को मिलती है। जो विचारधारा उन्हें अच्छी लगी है उसे उन्होंने अपनाया है और जो प्रतिकूल लगी है उसका साहसपूर्वक निषेध किया है। इसके पीछे संभवत: उनके संस्कार सक्रिय रहे हैं।

शुक्ल जी को सामंती या दरबारी साहित्य कभी भी रुचिकर नहीं लगा। उनकी दृष्टि हमेशा जातीय साहित्य पर रही। इसी कारण अपने इतिहास में उन्होंने देशभक्ति और जनतंत्र की साहित्यिक परम्परा का समर्थन किया है।

शुक्ल जी ने अपने इतिहास में न सिर्फ हिन्दी साहित्य की चर्चा की है, बल्कि इसके साथ हिन्दी भाषा के स्वरूप और उसके विकास को अच्छी तरह पहचानने का प्रयास भी किया है।

कवियों की भाषा की आलोचना में उनके अपने कुछ विशेष मानदण्ड थे। जहाँ वे हिन्दी भाषा के माधुर्य के लिए सूरदास की प्रशंसा करते हैं, वहीं उसकी व्यापकता के लिए तुलसी का उदाहरण सामने रखते हैं। छंदों और तुकों की पूर्ति के लिए किया जाने वाला भाषागत अनाचार उन्हें पसंद नहीं था। हिन्दी पर किसी अन्य भाषा के प्रभाव के भी वे हिमायती नहीं थे । इससे हिन्दी के प्रति उनके असीम अनुराग के साथ ही भाषा सम्बन्धी उनकी स्वस्थ विवेचना का परिचय मिलता है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि साहित्येतिहास लेखन में शुक्ल जी की दृष्टि विकासवादी है, जो एक ओर अत्यन्त व्यापक है तो दूसरी ओर अत्यन्त सूक्ष्म । साथ ही स्पष्ट विवेचन–विश्लेषण से भरपूर भी।

आचार्य शुक्ल की इतिहास–दृष्टि का मूल्यांकन करते हुए उसकी सीमाओं की भी चर्चा करना आवश्यक है। साथ ही उन आक्षेपों पर भी विचार होना चाहिए जो शुक्ल जी पर लगाए जाते हैं । यहाँ कुछ बिन्दुओं का उल्लेख किया जा रहा है–

1. शुक्ल जी इतिहास लेखन में युगीन प्रवृत्तियों की व्याख्या और निरूपण करने की अपनी घोषणा पर कायम नहीं रह सके हैं। उनके इतिहास का सिर्फ थोड़ा ही प्रवृत्ति निरूपण परक है, उसका अधिकांश तो विवरण प्रधान हो गया है।

2. उन्होंने अपने इतिहास में शोधपरक सर्वेक्षण प्रवृत्ति का परिचय बहुत कम दिया है।

3. अपने समय तक उपलब्ध आधारभूत सामग्री का पूरा उपयोग नहीं किया।

4. रचनाकारों को इतिहास में स्थान देने में कहीं—कहीं स्वेच्छा का परिचय दिया है। इससे जहाँ कुछ महत्वपूर्ण रचनाकार छूट गए, वहीं दूसरी ओर गौण रचनाकारों को स्थान मिल गया। शुक्ल जी के समय तक यशपाल, इलाचन्द जोशी, अमृतलाल नागर, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी, हरिशंकर शर्मा, शिवपूजन सहाय, मुंशी अजमेरी, शिवमंगल सिंह सुमन, सोहन लाल द्विवेदी, नन्द दुलारे वाजपेयी आदि हिन्दी साहित्य में अपना स्थान बना चुके थे, पर शुक्ल जी ने इनका उल्लेख नहीं किया। दूसरी ओर एकांकीकार धर्मप्रकाश, कवि तुलसीराम शर्मा दिनेश तथा पुरोहित प्रतापनारायण जैसे कम चर्चित रचनाकारों को स्थान दिया है।

5. कवियों की आलोचना में आपेक्षिक अनुपात का निर्वाह नहीं कर सके हैं। जो कवि अच्छा लगा है उसकी आलोचना विस्तार से की है। जो अच्छा नहीं लगा उसे यों ही चलता कर दिया है। आधुनिक कवियों में पंत की आलोचना कई पृष्ठों में की है, जबकि निराला की तीन पृष्ठों में और महादेवी की आधा पृष्ठ में । दिनकर, बच्चन व माखनलाल चतुर्वेदी आदि की मात्र कुछ पंक्तियों में ही ।

6. शुक्ल जी को पश्चिमी विचारधारा पसंद नहीं थी। संभवतः इसी कारण उन्होंने रहस्यवाद को विदेशी मानकर उसकी उपेक्षा की है। प्रगतिवाद जैसे आन्दोलन को भी उन्होंने इसी कारण नकार दिया।

7. शुक्ल जी का चिन्तन तो मौलिक है, पर उनकी कई स्थापनाएँ अप्रामाणिक सिद्ध हो गयी हैं। जैसे भक्तिकाल को पराभव की देन मानना, निर्गुण मत पर विदेशी प्रभाव, छायावाद पर बंगला का प्रभाव मानना आदि। इसी प्रकार जयशंकर प्रसाद को मात्र विलासिता का कवि कहना तथा निराला की भाषा में शब्दार्थ के असामंजस्य, आडम्बर और छंद प्रयोग में व्यर्थता का आरोप करना तर्क सिद्ध नहीं है।

8. चाहे–अनचाहे उन्होंने अनेक विधाओं, प्रवृत्तियों और कृतियों का अवमूल्यन किया है। जैसे– ''चंदबरदायी उनकी दृष्टि में व्यर्थ का कवि है, 'बीसलदेव रासो' असफल कृति है, विद्यापति मात्र श्रृंगारी कवि हैं। कबीर आदि निर्गुणियों में काव्य का पूर्ण अभाव है, केशव हृदयहीन हैं। रीतिकाल मात्र विलास का उद्गार है, महावीर प्रसाद द्विवेदी का लेखन सतही है तथा प्रेमचन्द अधिकांशतः प्रोपेगण्डिस्ट हैं, इत्यादि।''

(आचार्य शुक्ल की इतिहास दृष्टि, डा0 सूर्य प्रसाद दीक्षित, हिन्दुस्तानी, अंक–44, भाग – 3–4)

9. साहित्येतिहास लेखन में शुक्ल जी पर उनका आलोचक रूप हावी हो गया है। अपने मतों के समर्थन में वे आवश्यकता से अधिक तार्किक हो गए हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में– ''वे इतने गम्भीर और कठोर थे कि उनके वक्तव्यों की सरसता उनकी बुद्धि की आँच से सूख जाती थी और उनके मतों का लचीलापन जाता रहता था। आपको या तो 'हाँ' कहना पड़ेगा या 'ना'। बीच में खड़े होने का कोई उपाय नहीं। उनका अपना मत सोलह आने अपना है। वे तन कर कहते हैं कि मैं ऐसा मानता हूँ तुम्हारे मानने न मानने की मुझे परवाह नहीं।''

(हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ0–147)

इन विसंगतियों के बावजूद शुक्ल जी का इतिहास अद्वितीय है। इतिहास लेखन में उन्होंने जिस वैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है, वह बेजोड़ है। यही कारण है कि बाद के लेखक उनके ग्रंथ से बराबर प्रेरणा लेते रहे हैं और आगे भी लेते रहेंगे। उनका यह ग्रंथ आज भी इतिहास लेखकों के लिए प्रकाश स्तम्भ का कार्य कर रहा है।

16

पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति : पत्रकारिता के अनुभव

पंडित इन्द्र विद्यावाचस्पति के जीवन में पत्रकारिता का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। हिन्दी पत्रकारिता और पंडित जी दोनों का एक–दूसरे से अटूट सम्बन्ध था और दोनों एक–दूसरे के पर्याय रहे हैं । यदि पंडित जी को हिन्दी पत्रकारिता का भीष्म पितामह कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी। पत्रकारिता पंडित जी के संस्कारों में थी। उन्हीं संस्कारों के बीच वे उत्पन्न हुए थे। यह एक संयोग ही था कि उनका और 'सद्धर्म प्रचारक' का जन्म एक ही वर्ष हुआ। 8 नवम्बर 1889 को इन्द्र जी का जन्म हुआ और उसी वर्ष उनके पिता जी ने 'सद्धर्म प्रचारक' नामक पत्र उर्दू में निकाला । इस घटना ने बालक इन्द्र के भविष्य की सूचना दी ।

इन्द्र जी को पत्र निकालने की प्रेरणा अपने पूज्य पिता महात्मा मुंशीराम से मिली। प्रेस तो घर में था ही, उसका प्रभाव यह पड़ा कि अल्पायु में ही वे पत्र निकालने लगे। इस कार्य में उनके ज्येष्ठ भ्राता हरिश्चन्द्र जी भी सहयोगी रहे। दोनों भाई मिलकर 'सत्यप्रकाश व असत्य विचारक' नामक हस्तलिखित अखबार निकालते थे। इस पत्र के सम्बन्ध में स्वयं इन्द्र जी लिखते हैं–" हमारे सहोद्योग से तैयार होने वाले उस हस्तलिखित पत्र पर 'सद्धर्म प्रचारक' और 'सरस्वती' दोनों की छाप रहती थी । हम दोनों उसके लेखक तथा प्रकाशक थे और साथ ही पाठक भी। तीसरा कोई व्यक्ति हमारा सहायक नहीं था । जब अवसर मिल जाता तो प्रेस से कुछ कोरे कागज़ उड़ा लाते और स्कूल से बचे समय में लेख लिखते थे । हम लोग दोआबा हाई स्कूल में शिक्षा पाते थे, मेरी आयु सात वर्ष की होगी और हरिश्चन्द्र की नौ वर्ष की । यह पत्रकारिता का पहला अनुभव था।" उनका यह प्रयास बचपन का मनोविनोद ही रहा होगा, पर इससे उनकी पत्रकारिता के प्रति गहरी रूचि का परिचय मिलता है ।

गुरूकुल पहुँचने पर भी उनका यह प्रयास चलता रहा । नवीं कक्षा में आने पर दोनों भाइयों ने अलग–अलग पत्र निकालना प्रारम्भ किया। ये पत्र हस्तलिखित और सचित्र हुआ करते थे । इनकी भाषा संस्कृत और हिन्दी थी । इन पत्रों के कारण ही बालक इन्द्र में साहित्यिक रूचि जागृत

हुई। आगे चलकर जब गुरूकुल से 'सद्धर्म प्रचारक' हिन्दी में निकलना प्रारम्भ हुआ तो दोनों भाई उसमें भी लेख लिखने लगे । तब इन्द्र जी 'क्ष' कल्पित नाम से लिखते थे । उस समय की एक घटना का वर्णन इन्द्र जी के ही शब्दों में – "हमारे एक अध्यापक थे श्री शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ। उन्होंने ब्राह्मण ग्रन्थों पर एक भाष्य लिखा । नये विचारों से युक्त वह अपने ढंग की अनूठी चीज थी । उसके विषय में मैंने 'क्ष' नाम से सद्धर्म प्रचारक में आलोचनात्मक लेख लिखा । पंडित जी ने लिखे लेख को देखा तो क्लास में उसकी बड़ी कटु आलोचना की । उन्होंने दो सप्ताह बाद उसका जवाब दिया । मैंने फिर उनके जवाब का जवाब लिखा । यों दो–तीन लेखों में मेरी उनसे झड़प हुई । कहीं बात खुल न जाये, इस डर से कुछ समय बाद मैंने लिखना स्वयं ही बन्द कर दिया । इस विवाद से मेरा पत्रकार का दृष्टिकोण बना"।

पत्रकारिता के प्रति ब्रह्मचारी इन्द्र का शौक इतना गहरा था कि छात्रजीवन में ही उन्होंने 'सद्धर्म प्रचारक' के सम्पादन का भार उठा लिया। उनका यह अनुभव कैसा रहा, स्वयं उन्हीं के शब्दों में– "मैं अभी विद्यार्थी ही था, स्नातक नहीं बना था । दैनिक के सम्पादन का कार्य मैंने अपने जिम्मे लिया। गुरूकुल का प्रेस तो काफी बड़ा था। गंगा के पार उस वनस्थली में दैनिक पत्र के लिए सामग्री कहाँ से मिलती। तो भी बहुत प्रयत्न करके कुछ दिनों तक–शायद दस दिन तक–'सद्धर्म प्रचारक' का दैनिक संस्करण निकाला गया। आर्थिक दृष्टि से वह पूरी तरह घाटे का सौदा था। न स्थानीय बिक्री थी और न एजेन्सियों का प्रबन्ध। बस, इतनी संतोष की बात समझो कि दैनिक संस्करण निकालने के कारण सद्धर्म प्रचारक की ख्याति हो गयी, और मैं यह अनुभव करने लगा कि दैनिक पत्र निकाल सकता हूँ। "

छात्रजीवन में 'सद्धर्म प्रचारक' का सम्पादन करते हुए उन्हें अन्य कई तरह के भी अनुभव हुए। एक बार प्रूफ संशोधन ठीक न होने के कारण एक लेख गलत छप गया। इससे ब्रह्मचारी इन्द्र को बड़ी आत्मग्लानि हुई। तभी उन्होंने निश्चय किया कि "1–लेख स्पष्ट अक्षरों में लिखूँगा । 2– अंग्रेजी के अक्षर कभी न लाऊँगा । 3–उसे स्वयं शोध लिया करूँगा । 4–सरल भाषा में लिखा करूँगा।"

स्नातक बनने के बाद गुरूकुल में अध्यापन करते हुए भी इन्द्र जी

कुछ दिनों तक 'सद्धर्म प्रचारक' का सम्पादन करते रहे। इसमें लिखे हुए उनके लेख तथा टिप्पणियाँ बहुत महत्त्वपूर्ण हुआ करती थीं। 'सद्धर्म प्रचारक' की टिप्पणियों के कारण ही श्री गणेश शंकर विद्यार्थी जी इनसे मिलने गुरूकुल पधारे ।

इन्द्र जी के ही प्रयास से 'गुरूकुल' नामक दैनिक पत्र निकलना आरम्भ हुआ। आपने इसका एक मास तक सम्पादन करने का भार भी उठाया। संस्कृत की पत्रिका 'उषा' के सम्पादन का कार्य भी पंडितजी ने ग्रहण किया। इसे उनके भावी दैनिकों के प्रकाशन की भूमिका कहा जा सकता है ।

इन्द्र जी का झुकाव आरम्भ से ही समाज सेवा, राजनीति और पत्रकारिता की ओर रहा । बौद्धिक कार्य करने की प्रबल इच्छा उन्हें दिल्ली खींच लायी। यहाँ आकर उन्होंने 'विजय' नामक पत्र निकाला। संभवतः उन्हें इस पत्र को निकालने की प्रेरणा लोकमान्य तिलक और उनके 'केसरी' पत्र से मिली। पत्र निकला और सफल रहा। सफलता का विवरण स्वयं इन्द्र जी के शब्दों में–"पत्र निकला, पत्र छपता था हैण्ड प्रेस पर। पहले दिन 70 कापियाँ बिकीं और वह भी प्रायः हिन्दी पढ़ने वाली लड़कियों ने ही लीं। तीन महीने में उसकी बिक्री 1500 तक पहुँच गयी। आगे चलकर तो इसकी पन्द्रह हजार से ऊपर प्रतियाँ बिकने लगीं। रात–दिन प्रेस चलता था। पत्र इधर छपा नहीं कि हाथों–हाथ लोगों तक पहुँच जाता। पढ़ने वाले बड़ी बेसब्री से पत्र का इन्तजार करते । हिन्दी न जानने वालों ने पत्र पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी। जो न सीख सके वे उसे पढ़वाकर सुनने के लिए खरीदते थे। दुकानदारों से लेकर झल्लीवाले और ठेलेवाले तक पत्र पढ़ते थे।" उस समय 'विजय' दिल्ली और पंजाब का पहला हिन्दी दैनिक था, इसलिए दिल्ली में घर–घर उसकी गूँज थी ।

'विजय' से इन्द्र जी को भी बहुत ख्याति मिली। वे उसमें 'नारद' नाम से 'वीणा' की झंकार' लिखते थे। उनकी इस झंकार को लोग बड़े चाव से पढ़ते व सुनते थे। इसमें माधुर्य मिला व्यंग्य होता था और साथ ही मनोरंजक ढंग से वर्तमान समस्याओं का समाधान भी। 'विजय' के द्वारा ही इन्द्र जी ने दिल्लीवासियों में नवजागरण का मंत्र फूँका। पर सत्याग्रह आंदोलन के साथ जुड़ जाने के कारण इस पत्र को सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। सेन्सरशिप लग गयी और पत्र बन्द हो गया । दो साल बाद यही 'अर्जुन' नाम से निकला ।

इन्द्र जी ने इसी बीच 'सत्यवादी' तथा 'वैभव' नामक पत्रों का भी सम्पादन किया। 'सत्यवादी' एक साप्ताहिक–पत्र था जो जनवरी 1923 के प्रथम सप्ताह में दिल्ली से निकला। इस पत्र के जन्म की कथा इन्द्रजी के ही शब्दों में– 'पुस्तक लेखन के समाप्त होने पर मैं फिर खाली हो गया। उँगलियाँ लिखने को उतावली थीं और चित्त अपने भावों को उगलना चाहता था। परन्तु साधनों का अभाव था। उस लाचारी के अवकाश से लाभ उठाकर मैंने दो पुस्तकें लिखीं, परन्तु उससे दिल का बोझ हल्का न हुआ, अन्त में एक साप्ताहिक पत्र निकालने का मनसूबा पक्का किया। दैवयोग से एक सहायक भी मिल गये। प्रसिद्ध दानवीर सेठ रघुमल लोहिया ने इस रूप में सहारा दिया। उन्होंने अपनी दुकान पर हिसाब खुलवा दिया। आज्ञा दे दी कि एक वर्ष तक दुकान से आवश्यकतानुसार 'सत्यवादी' के लिए परिमित राशि ली जा सकती है।''

'वैभव' दैनिक पत्र था और तेलीवाड़े से निकलता था। इसे भरतपुर के महाराजा को अंग्रेजों के कोप से बचाने के लिए निकाला गया था। अनेक मित्रों के आग्रह पर पंडित जी ने इसका प्रधान सम्पादक बनना स्वीकार किया। पत्र की स्थिति बहुत दयनीय थी। इन्द्र जी के ही शब्दों में–''टाइप बहुत पुराना था, छपाई अच्छी नहीं आती थी, और चार पृष्ठों के लेख प्रतिदिन पूरे नहीं होते थे। इस कारण दैनिक पत्र सप्ताह में प्रायः दो दिन प्रकाशित हो पाता था।'' यह कार्य बालू में से तेल निकालने जैसा था। अतः पंडितजी ने इसे छोड़ दिया। यह उनकी रूचि के अनुकूल भी नहीं था। इस पत्र के सम्पादन से उन्हें एक नया अनुभव मिला। उन्हीं के शब्दों में– ''साहसिक कार्य छोटा हो या बड़ा, उसे कभी दूसरे के बलबूते पर आरम्भ न करो। अपने भरोसे पर पार जाने के लिए गंगा में भी कूद पड़ो, परन्तु केवल दूसरे के सहारे का भरोसा रखकर घुटनों तक के पानी में भी पाँव न रखो।''

स्वामी जी के शुद्धि आंदोलन ने 'अर्जुन' को जन्म दिया। 24 अप्रैल 1923 को इसका पहला अंक निकला। यह उत्तरी भारत का एक मात्र हिन्दी दैनिक था। इसके प्रथम सम्पादक श्री भीमसेन विद्यालंकार थे। यह पत्र न तो किसी का पिछलग्गू था और न ही किसी संस्था का आश्रित। इसके प्रकाशन के समय पंडित जी की क्या स्थिति थी, स्वयं उन्हीं के शब्दों में– 'न कुछ मूलधन था, और न कोई साथी। केवल दुस्साहस की पूँजी के सहारे पर दैनिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ कर दिया। पत्र लिखा जाता था

श्रद्धानन्द बाजार में और छपता था लगभग ढाई मील दूर सद्धर्म प्रचारक प्रेस में, जो इन दिनों परेड के मैदानवाली सड़क पर था।" पर पंडित जी के परिश्रम और लगन से पत्र अच्छा चल निकला। 'अर्जुन' स्वराज्य पार्टी व शुद्धिसभा का प्रवक्ता बन गया। यह महर्षि दयानन्द जन्म शताब्दी सभा का संदेशवाहक भी रहा। जैसे–जैसे पंडित जी का कार्यक्षेत्र बढ़ता गया वैसे–वैसे 'अर्जुन' भी उनका सहायक बनता गया। आर्यसमाज और हिन्दी प्रचार में भी इस पत्र ने उनकी बड़ी सहायता की। 'अर्जुन' पंडित जी के संघर्ष के दिनों का भी साथी रहा। यह पत्र 'न दैन्यं न पलायनम्' के ध्येय को लेकर निकला था और कभी भी इससे पीछे नहीं हटा।

अर्जुन की स्पष्टवादिता और तीखेपन ने सरकार को चौंका दिया। फलतः उस पर प्रहार होने लगे। 1926 में पहला प्रहार हुआ। इस समय श्री सत्यकाम विद्यालंकार जी पत्र के सम्पादक थे और इन्द्र जी प्रकाशक तथा मुद्रक। उनकी अनुपस्थिति में कुछ आपत्तिजनक लेख व समाचार छप गये जिसको लेकर सरकार ने पत्र के सम्पादक व प्रकाशक दोनों पर मुकदमा ठोंक दिया। इन्द्र जी को साढ़े पाँच साल की सख्त कैद व डेढ़ हजार रूपये जुर्माना की सजा हुई। स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण थोड़े ही दिनों बाद आपको जेल से रिहा कर दिया गया। जेल से छूटते ही पंडित जी पुनः अर्जुन के सम्पादन कार्य में लग गये।

'अर्जुन' पर दूसरा प्रहार पूँजीपतियों की ओर से हुआ । अनेक पूँजीपतियों ने धन कमाने के लिए पत्र निकालना प्रारम्भ कर दिया । कई पत्रों के प्रातः कालीन संस्करण निकलने लगे । जबकि 'अर्जुन' अब तक सायंकालीन ही था । इन पत्रों की प्रतिस्पर्धा में खड़े रहने के लिए अर्जुन को भी प्रातःकालीन करना पड़ा । पत्रकारिता में भी अब पूँजी का प्रवेश बढ़ने लगा था। वह मिशन न रहकर व्यवसाय बनती जा रही थी। ऐसे में पंडित जी के लिए पत्र निकालना बड़ा कठिन हो गया। अनेक बार पूँजीपतियों से 'अर्जुन' की सीधी टक्कर हुई। पहली टक्कर फतेहपुरी के एक होटल मालिक से हुई। 'अर्जुन' ने उसके होटल को व्यभिचार का अड्डा बताया था। बात सही भी थी। इससे तिलमिलाकर होटल के मालिक ने विरोधस्वरूप उर्दू का एक दैनिक पत्र ही निकाल लिया और उसके माध्यम से 'अर्जुन' और आर्यसमाज पर प्रहार करने लगा। हालाँकि इसमें जीत अर्जुन की ही हुई। दूसरी टक्कर एक पूँजीपति से हुई। 'अर्जुन' में उसकी मिल के मजदूरों की शिकायत छप गयी थी। उससे मिल का सेक्रेटरी

बौखला गया। उसने पत्र पर मानहानि का दावा करने की धमकी दी। पर अन्त में वह अपनी ही हानि के भय से पीछे हट गया।

इस बीच दिल्ली से हिन्दी के दो दैनिक और निकले। 'अर्जुन' को इनसे भी व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा करनी पड़ी। परिणाम यह हुआ कि पत्र की आर्थिक स्थिति डाँवाडोल हो उठी। वह घाटे में चलने लगा। ऐसे में कर्मचारियों ने भी हड़ताल की धमकी दे दी। पर किसी तरह इस समस्या से छुटकारा मिला। पर पंडित जी को अब यह महसूस होने लगा कि बिना कम्पनी बनाये पत्र को चलाना असम्भव है। यहीं से 'अर्जुन' और पंडितजी के सम्बन्धविच्छेद की भूमिका बनी। उधर अर्जुन पर सरकारी कोप जारी ही थे। उससे बार–बार जमानत माँगी जाती थी। 1935 में पत्र में क्वेटा भूकम्प का समाचार छपा। इससे सरकार चिढ़ गयी । इस बार अर्जुन से पाँच हजार की जमानत माँगी गयी। जमानत तो दे दी गयी पर इसके साथ ही अर्जुन का प्रकाशन बन्द कर दिया गया। जमानत की रकम वापस लेने के लिए इसी पत्र का नाम बदलकर 'वीर अर्जुन' के नाम का डिक्लेरेशन दिया गया। सरकार ने इसे अर्जुन का प्रतिद्वन्द्वी समझ कर मंजूरी दे दी। इस प्रकार अर्जुन अब 'वीर अर्जुन' के नाम से निकलने लगा। 1940 में श्रद्धानन्द पब्लिकेशन लिमिटेड की स्थापना होने पर पत्र का स्वामित्व इस कम्पनी को मिल गया। अब यह इन्द्र जी का व्यक्तिगत पत्र न रह गया। पर वे इससे जुड़े रहे। 27 जनवरी 1946 को इस पत्र की रजत जयन्ती मनायी गयी । पत्र को शुभकामना संदेश भेजते हुए राजर्षि पुरूषोत्तमदास टंडन ने लिखा था–"वीर अर्जुन की रजत जयन्ती के अवसर पर इसे मेरी हार्दिक बधाई । पिछले 25 वर्षों में दिल्ली के प्रभावशाली क्षेत्र में उसने मेरे प्यारे भाई श्री इन्द्र जी की शक्ति पाकर निर्भीकता से देश की सेवा की है और हिन्दी का मान रखा है। यह हिन्दीभाषियों के प्रेम और सम्मान का अधिकारी है। यह चिरजीवी हो, और इन्द्रजी के करों में हिन्दीप्रेम का गाण्डीव सदा राष्ट्रीयता की रक्षा करे।"

इस अवसर पर इन्द्र जी ने भी अपने उद्‌गार व्यक्त किये। उन्होंने अपने सहयोगियों से निवेदन करते हुए कहा कि वे अपने पत्रों को इस प्रकार सर्वांगपूर्ण बनाएँ जिससे कि पाठकों को किसी अन्य भाषा के समाचार पत्रों की आवश्यकता ही न रह जाय। पर इन्द्र जी की यह आशा पूरी नहीं हुई। आजादी के बाद समाचार पत्रों के दृष्टिकोण में व्यापक परिवर्तन हुआ। पत्रकारिता धीरे–धीरे व्यवसाय होती जा रही थी। स्वाधीनता–संग्राम में

जूझने वाले अनेक पत्र धीरे–धीरे बन्द होने लगे या अपना स्वरूप बदलने लगे। 'वीर अर्जुन' भी इससे अछूता न रहा। ऐसे में इन्द्र जी के लिए इस पत्र से जुड़े रहना सम्भव न हो सका और उन्होंने इससे सम्बन्धविच्छेद कर लिया। ऐसा उनके विचारों और आदर्शों के संघर्ष के कारण हुआ।

इन्द्र जी ने मुम्बई की कई यात्राएँ की थीं। उन्होंने यह अनुभव किया कि हिन्दी भाषी जनता के लिए यहाँ से भी हिन्दी का कोई दैनिक निकाला जा सकता है। अपनी इस योजना को कार्यरूप देने के लिए उन्होंने वहाँ हिन्दी समाचारपत्र लिमिटेड की स्थापना की । इस कम्पनी के माध्यम से इन्द्र जी ने मुम्बई से 'नवराष्ट्र' नामक हिन्दी दैनिक निकाला । 15 जनवरी 1939 को इसका पहला अंक निकला । कुछ दिनों तक इस पत्र की बड़ी धूम रही, पर पंडित जी के मुम्बई से वापस आने के थोड़े दिनों बाद ही यह बन्द हो गया ।

पंडित जी ने कुछ दिनों तक दैनिक 'जनसत्ता' का भी सम्पादन किया। यह कार्य उन्होंने अपने एक निकट सम्बन्धी के कहने पर स्वीकार किया। इसकी भी एक लम्बी कहानी है। उन्हीं के शब्दों में –"मुझे चारपाई पर लेटे चार महीने बीत गये थे। चिकने फर्श पर पैर फिसल जाने से मेरी जाँघ की हड्डी टूट गयी थी, जिसने मुझे लगभग तीन मास तक दिल्ली के प्रसिद्ध जोशी अस्पताल में और एक मास तक घर पर लेटने के लिए बाध्य कर दिया । अभी मैं चारपाई से उठकर अच्छी तरह घूमने–फिरने भी नहीं पाया था कि एक दिन मेरे एक निकट सम्बन्धी महोदय का टेलीफोन आया। निकट सम्बन्धी महोदय ने टेलीफोन द्वारा मुझे सूचना दी–समाचारपत्रों के एक प्रसिद्ध स्वामी और संचालक एक नये हिन्दी पत्र के लिए प्रधान सग्पादक की तलाश में हैं। मैंने उन्हें आपका नाम सुझाया है, जिसे उन्होंने पसंद भी कर लिया है। सम्बन्धी महोदय ने मुझसे आग्रहपूर्वक कहा कि ये पत्र–स्वामी बहुत सज्जन हैं, राष्ट्रीय विचारों के हैं और बात के धनी हैं। आप अपने स्वभाव के अनुसार उनके प्रस्ताव को रद्द न कर दीजिएगा। मैं उन्हें लेकर आपके पास आऊँगा। अगले दिन वे अपने मित्र पूँजीपति महोदय को लेकर मेरे मकान पर आये। मैं सहारा लेकर चारपाई से उठा और बातचीत करने के लिए कुर्सी पर बैठा। लगभग डेढ़ घण्टे तक बातचीत हुई। पत्रस्वामी ने अपना अभिप्राय यह बतलाया कि वह दिल्ली में अपने अंग्रेजी अखबार के साथ हिन्दी का एक ऐसा दैनिक निकालना चाहते हैं, जो सर्वसाधारण का प्रिय बन जाये। उसकी ग्राहक संख्या कम–से–कम 30

हजार तक पहुँच जाये। पत्र की नीति राष्ट्रीय हो और भाषा सरल होनी चाहिए। उन्होंने कहा कि मैं आपकी योग्यता और नीति से परिचित हूँ, इस कारण चाहता हूँ कि आप इस आयोजन में मेरी सहायता करें। मेरा यह पत्र हिन्दी–जगत् के लिए लाभदायक होगा।''

पंडित जी ने अपनी कुछ शर्तें रक्खीं, जिन्हें पत्र के स्वामी ने स्वीकार कर लिया। परिणाम यह हुआ कि पत्र निकला और एक ही वर्ष में उसकी 15000 से ऊपर प्रतियाँ छपने लगीं। पर सैद्धांतिक मतभेदों के कारण थोड़े ही समय बाद पंडितजी इससे अलग हो गये।

इन्द्र जी लम्बे समय तक पत्रकारिता से जुड़े रहे। इस दौरान उन्हें कई बार संघर्षों का सामना करना पड़ा। अनेक खट्टे–मीठे अनुभव हुए। पर वे कभी भी अपने ध्येय से पीछे नहीं हटे। उनके पत्रकार जीवन के अनुभवों का विवरण पं0 पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश' को दिये गए साक्षात्कार में मिलता है। एक सफल पत्रकार के गुणों के बारे में बात करते हुए पंडितजी ने कहा था–''मेरी सम्मति में पत्रकार किसी भी प्रकार के हों, सफलता उन्हीं को मिलेगी, जो स्पष्ट और डाइरेक्ट लिखेंगे। अग्रलेख भी छोटा हो, एक या सवा कालम का। दो–ढाई कालम का अग्रलेख लिखना व्यर्थ है। लिखते समय पत्रकार को ग्राहक का हृदय पकड़ने की कोशिश करनी चाहिए। दूसरी बात यह है कि पत्रकार के लिए अपनी सम्मति की स्वतन्त्रता को बचाना भी आवश्यक है। क्योंकि ग्राहक ऐसे प्रभावशाली पत्रकार का आदर करते हैं, जो निर्भीकता से सत्य का समर्थन करें। तीसरी बात यह है कि वह जो सम्मति बनाये, खूब सोच–समझकर बनाये और अन्त तक उस पर दृढ़ रहे। कारण, वह जनता का सच्चा पथप्रदर्शक है और चंचल बुद्धि होने से वह जनता का विश्वास खो बैठेगा। चौथी बात है, उसका निष्पक्ष होना। उसे किसी पार्टी का वकील नहीं बनना चाहिए। ऐसा करने से वह संतुलन खो देगा। और संतुलन खो देना पत्रकार की सफलता में सबसे बड़ी बाधा है। विदेशों मैं पत्रकार का स्थान मिनिस्टरों के बराबर माना जाता है। मैं तो उसे मिनिस्टर से भी ऊँचा मानता हूँ। क्योंकि मिनिस्टर सरकार की नीति से बंधा हुआ है और पत्रकार सर्वथा स्वतन्त्र रहता है। जो पत्रकार वकील की तरह चाहे जिस पार्टी का प्रचार करने लग जाता है, वह पत्रकारिता के स्तर को नीचा करता है। यदि वही होता रहा और पत्रकार की स्वतन्त्रता लुप्त हो गयी, तो पत्रकारिता की अन्त्येष्टि

समझनी चाहिए। मेरी सम्मति में सफल पत्रकार वही हो सकता है, जो निर्लोभी और तपस्वी हो। इसलिए तपस्या सफलता का मूल आधार है।''

पंडित जी पत्रकारिता को व्यवसाय बनाये जाने के खिलाफ थे। उनका कहना था– ''पत्र तो जनता का शिक्षक होता है और वह लोकमत बनाता है। यदि हमने उसे धनोपार्जन का साधन बना लिया तो उससे समाज का अहित भी हो सकता है।'' पत्रकारिता के बदलते दृष्टिकोण से पंडित जी बड़े दुखी थे। उनके देखते ही देखते कितने पत्र पूँजीपतियों के गुलाम या राजनीतिक पार्टियों के प्रचारक बन गये। कितने ही पत्रकारों ने प्रलोभन के कारण अपना ईमान बेच दिया। जो स्वाभिमानी थे वे या तो इस क्षेत्र से हट गये या अपनी आत्मा की आवाज को दबाकर किसी तरह घिसटते रहे। पर पंडित जी ने न तो कभी अपनी आवाज दबायी और न स्वाभिमान ही बेचा। वे किसी पूँजीपति के गुलाम भी नहीं बने। परिणाम यह रहा कि निरन्तर आर्थिक कष्ट भोगते रहे। तीस साल की पत्रकारिता में एक पैसा भी नहीं बचा सके। जो कुछ कमाया उसे सरकार ले गयी। पर आत्मिक सन्तोष जरूर मिला। वे अपने मिशन में सफल हुए। उन्होंने अपनी कला से हिन्दी पत्रकारिता को न केवल सँवारा–निखारा बल्कि उसे गौरवान्वित भी किया। हिन्दी जगत् इसके लिए उनका हमेशा ऋणी रहेगा।

17

हिन्दी काव्य में गंगा

गंगा का हमारी सभ्यता और संस्कृति के साथ बड़ा गहरा सम्बन्ध है। भारतीय मनीषियों ने गंगा को माँ का स्थान दिया है। इसके साथ सदा से हमारी धार्मिक आस्था जुड़ी रही है । गंगा मात्र एक नदी नहीं, अपितु वह हमारे जीवन का आधार है । वह अपने अमृत से हमारे प्राणों को सिंचित करती है। गंगा पतित पावनी और भव दुःख निवारिणी है । उसके पवित्र और सुन्दर रूप पर कवियों का मन सदा से मुग्ध होता रहा है। वेदों से लेकर आधुनिक युग के मनीषियों ने अनेक रूपों में गंगा का गुणगान किया है। ऋग्वेद के नदी सूक्त में गंगा का उल्लेख है । भगवद् गीता में गंगा को ईश्वर का रूप माना गया है । भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं – स्त्रोतसामस्मि जाह्नवी (अध्याय – 10, श्लोक – 31) अर्थात् नदियों में मैं जाह्नवी (गंगा) हूँ ।

वाल्मीकि रामायण और महाभारत के अतिरिक्त वायुपुराण अग्निपुराण, स्कंदपुराण, मत्स्यपुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, विष्णु पुराण, देवी भागवत और श्रीमद् भागवत में गंगा की महिमा का विविध रूपों में वर्णन मिलता है। गंगा के स्वर्गिक उद्गम और उनके पृथ्वी पर अवतरण की कथा इन पुराणों में उपलब्ध है। कालिदास के 'कुमारसंभवम्', शंकराचार्य के 'गंगाष्टक' तथा पंडितराज जगन्नाथ के अद्भुत ग्रंथ 'गंगालहरी' में गंगा के विविध रूपों का स्तवन हुआ है । आचार्य रामानुज, वल्लभ, रामानन्द, चैतन्य, स्वामी रामतीर्थ, प्रणवानन्द आदि अनेक आचार्य संतों ने गंगा की महिमा का गान किया है। इसी प्रकार भारत के सभी महान रचनाकारों ने माँ गंगा के गुणगान से अपनी रचनाओं का गौरव बढ़ाया है।

हिन्दी काव्य में भी गंगा का विशद वर्णन हुआ है। हिन्दी में गंगा सम्बन्धी काव्य दो रूपों में मिलता है–एक गीति काव्य या मुक्तक के रूप में और दूसरा प्रबंध काव्य के रूप में । मुक्तक रचनाओं में गंगा की स्तुति, महत्ता और गौरव का वर्णन हुआ है जबकि प्रबंध रचनाओं में गंगावतरण की पौराणिक कथा दी गई है। कुछ ऐसे भी ग्रंथ हैं जिनमें प्रसंगवश गंगा का सुन्दर वर्णन मिलता है।

विद्यापति हिन्दी के प्रथम कवि हैं जिन्होंने दो पदों में गंगा की महिमा का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है । गंगा की शरण में आने वाले का भवभय भाग जाता है –

ब्रह्म कमण्डलु बास सुवासिनि
सागर नागर गृह बाले ।
पातक महिष विदारण कारण ।
धृत कर बाल बीचि माले ।
जय गंगे जय गंगे
शरणागत भय भंगे ।

कृष्ण भक्त कवि सूरदास ने चार पदों में गंगावतरण की कथा का महिमा सहित वर्णन किया है। गंगा की धारा में जो कोई स्नान करता है, वह पवित्र होकर स्वर्ग जाता है। सूरदास का ऐसा ही मानना है –

गंग प्रवाह माहिं जो न्हाइ । सो पवित्र ह्वै हरिपुर जाइ ।।

गंगा की धारा को देखकर नेत्र तृप्त हो जाते हैं । यह धारा विष्णु का पादोदक है। वेद इसके माहात्म्य का वर्णन कर सुख पाते हैं । यह धारा पवित्र मुक्तिदायिनी और राजा भगीरथ को सुन्दर वर देने वाली है। यह तीनों लोकों की हार और श्रृंगार भगवती है, जिसका जल चर और अचर का आश्रय है। सूरदास जी कहते हैं कि ब्रह्मा के तप से संतों को सुख देने वाली गंगा प्रकट हुई –

गंग तरंग विलोकत नैन।
अतिहिं पुनीत विष्नु पादोदक, महिमा निगम पढ़त गुनि चैन।।
परम पवित्र मुक्ति की दाता, भागीरथहिं भव्य बर दैन।
द्वादस वर्ष सेए निसि बासर, तब संकर भाषी है लैन।।
त्रिभुवन हार सिंगार भगवती, सलिल चराचर जाके ऐन।
सूरजदास विधाता कैं तप, प्रगट भई संतनि सुख दैन।।

गोस्वामी तुलसीदास जी की दृष्टि में गंगा समस्त आनन्द मंगलों की मूल हैं। वे सब सुखों को करने वाली और सब पीड़ाओं को हरनेवाली हैं –

गंग सकल मुद मंगल मूला । सब सुख करनि हरनि सब सूला।।

गोस्वामी जी गंगा को ब्रह्म का ही द्रव रूप मानते हैं । वे विषयी जीव को फटकारते हुए कहते हैं कि अरे मूर्ख ! तू यह जानकर भी सर्वदा श्री गंगाजल का सेवन क्यों नहीं करता ?

ब्रह्म जो व्यापक बेद कहैं, गम नाहिं गिरा गुन–ग्यान–गुनी को।
जो करता, भरता, हरता, सुर–साहेब, साहेब, दीन–दुनी कौ।।
सोइ भयौ द्रव रूप सही, जो है नाथु बिरंचि महेस मुनी को।
मानि प्रतीति सदा तुलसी जलु काहे न सेवत देव धुनी को।।

गंगा की तो ऐसी महिमा है कि उनकी तरंगों का दर्शन होते ही जीव का विष्णु लोक में जाना निश्चित हो जाता है –

ओक की नींव परी हरिलोक बिलोकत गंग ! तरंग तिहारे।

विनय पत्रिका में गोस्वामी जी लिखते हैं कि हे माता ! तुम न होती तो पता नहीं कलियुग क्या–क्या अनर्थ करता और यह तुलसीदास घोर अपार संसार सागर से कैसे तरता –

तो बिनु जगदंब गंग कलिजुग का करित?
घोर भव अपार सिन्धु तुलसी किमि तरित।

गुरु नानक के पुत्र तथा उदासीन सम्प्रदाय के श्रेष्ठ आचार्य श्रीचन्द जी ने अपने एक पद में मां गंगा की बड़ी सुन्दर वंदना की है। 'हे माँ भागीरथी! आप सब प्राणियों को भव सागर से पार उतारती हैं। विष्णु के चरण कमलों का मकरन्द ही आपके रूप में शिव जी की जटाओं में बह रहा है। आप की धारा इसलिए भी पवित्र है क्योंकि पार्वती और गणेश इसमें अपनी निर्मल देह पखारते हैं। पापी जन भी आपकी धारा में स्नान कर विष्णु और शिव का रूप प्राप्त कर लेते हैं। नारद, शारदा, शेष तथा इन्द्र आपकी महिमा का वर्णन करते–करते हार जाते हैं और पार नहीं पाते। आपके तट पर रहने वाले पक्षी तथा जल में रहने वाले जीव सीधे स्वर्ग पहुँच जाते हैं। हे माँ ! कलियुग जन्य दोष व्याप्त हो रहे हैं । कृपाकर तुम मेरी पीड़ा को दूर करो –

भागीरथी तूँ सभुजन तारत।
हरि चरनारविंद मकरंदा पिंगल जटा जूट सिव धारत।
चंदन चोआ चिन्मउ धारा गनपति गौरी देहु पखारत ।

हरिहर रूप पातकी पावत विधि तुअ तेज प्रतापु विचारत।
नारद सारद सेस सुरेसा कथि–कथि हारत बरनि न पारत।
मच्छ कच्छ तट तरूवर कोटर पंखी तन तजि स्वर्ग सिधारत।
श्रीचंद कलि कलमसु अति व्यापै अघु नासनि हरू मम उर आरत।।

मुसलमान कवियों की भी गंगा के प्रति बड़ी श्रद्धा रही है । रहीम ने अपने एक दोहे में गंगा का बड़ा सुन्दर स्तवन किया है । देखें –

अच्युत चरण–तरंगिणी, शिव–सिर–मालति–माल।
हरि न बनायो सुरसरी, कीजो इंदव भाल।।

गंगा जल तो संजीवनी है। यह कठिन से कठिन रोगों को दूर भगा देता है। यह गंगाजल का ही प्रभाव है कि अपथ्य भी पथ्य बन जाता है। इसी जल के भरोसे तो शिव आक और धतूरा चबाते तथा विष खाते फिरते हैं। इसी भाव को लेकर लिखा गया रसखान का यह छन्द देखिए –

बैद की औषद खाइ कछू न करै बहु संजम री सुनि मोसें।
तो जलपान कियौ रसखानि, सजीवन जानि लियौ रस तोसें।
एरी सुधामई भागीरथी नित पथ्य अपथ्य बनै तोहिं पोसें।
आक धतूरो चबात फिरै विष खात फिरै सिव तेरे भरोसें।।

रीतिकाल के कवि पद्‌माकर ने 'गंगालहरी' नाम से बड़े ही सुन्दर काव्य की रचना की । यह पंडितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' के ढंग की स्वतंत्र रचना है । कहते हैं कि 'संपति सुमेरू की' वाले कवित्त में पद्‌माकर ने गजानन को दान कर देने की जो बात कही, उससे उन्हें कुष्ठ हो गया। तब वे कानपुर में जाकर गंगा स्तुति करने लगे। गंगा की वंदना में गंगालहरी का निर्माण करने पर वे रोगमुक्त हुए । गंगालहरी कुल 56 छन्दों की रचना है। उनमें सभी एक से एक अनोखे है।

पद्‌माकर की दृष्टि में गंगा की महिमा अपरम्पार है। गंगा की धवल धारा में जिसने प्रवेश किया उसका स्वर्गलोक में स्थान निश्चित हो गया । जिसने गंगा का नाम लिया उसका मुख अमृत से भर गया । जहाँ–जहाँ गंगा की अमृत बूंदें जाती हैं वहाँ–वहाँ पापों का नाश हो जाता है –

पायौ जिन तेरी धौरी धारा में धसत पात
तिनको न होत सुरपुर तें निपात है।
कहैं पद्‌माकर तिहारो नाम जाके मुख

ताके मुख अमृत को पुंज सरसात है।
तेरी छवै करि छुवत तन जाकों बात
तिनकी चलै न जमलोकन में बात है।
जहाँ जहाँ मैया धूरि तेरी उड़ि जात गंगा
तहाँ तहाँ पापन की धूरि उड़ि जात है।।

गंगा ने सारे पापियों का उद्धार कर दिया । अब संसार में कोई पापी ही नहीं रहा । फल यह हुआ कि यमपुर के द्वार ही बंद हो गए । यमपुर की बड़ी दुर्गति होने लगी । सारा कार्य–व्यापार ठप पड़ गया । जिसे कोई नहीं तारता उसे गंगा जी तार देती हैं । गंगा जी ने तो इतनों को तार दिया, जितने कि आकाश में तारे भी नहीं हैं ।

काहू ने न तारे तिन्हैं गंगा तुम तारे और
जेते तुम तारे तेते नभ में न तारे हैं।

मनुष्य जिस भी स्थिति में रहे– सुख में या दुःख में, नगर में या गाँव में, मित्र में या शत्रु में – उसे निरन्तर गंगा–गंगा कहकर जन्म बिताना चाहिए–

जोगहू में भोग में वियोग में संजोगहू में
रोगहू में रस में न नेकौ बिसराइये।
कहैं पद्माकर पुरी में पुन्य सैलन में
फैलन में फैल फैल गैलन में गाइये।
बैरिन में बंधु में विथा में बेसबालन में
बन में विषै में रनहू में जहाँ जाइये।
सोचहू में सुख में सुरी में साहिबी में कहूँ
गंगा गंगा गंगा कहि जनम बिताइये।।

पद्माकर की 'गंगालहरी' की भाषा बड़ी साफ–सुथरी और मंजी हुई है। उनकी अलंकरण शैली भी अनूठी है।

पंडितराज जगन्नाथ की 'गंगालहरी' के कई सुन्दर अनुवाद भी हुए। इनमें उजियारे लाल, रेवाराम, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, पं0 महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि की गंगालहरी का नाम लिया जा सकता है। महाराज रघुराज सिंह का 'गंगाशतक' भी सुन्दर सांहित्यिक रचना है । पं0 नन्दकिशोर मिश्र का 'गंगाभूषण' अलंकार ग्रन्थ के रूप में लिखा गया है।

बाबू जगन्नाथ दास रत्नाकर ने गंगा पर 'गंगावतरण' नाम से बहुत सुन्दर प्रबंध काव्य की रचना की। इस ग्रंथ की रचना का संकल्प उन्होंने हरिद्वार में गंगातट पर ही लिया था। इसमें पृथ्वी पर गंगा के अवतीर्ण होने की पौराणिक कथा है। भाव पक्ष और कला पक्ष की दृष्टि से गंगावतरण हिन्दी की उत्कृष्ट रचना है।

गंगा ब्रह्मकमण्डल से निकलकर आकाशमार्ग से पृथ्वी की ओर चली आ रही हैं । उनके उग्र रूप का चित्रण रत्नाकर के इन शब्दों में देखिए—

निज दरेर सौं पौन पटल फारति फहरावति।
सुरपुर के अति सघन घोर घन घसि घहरावति।
चली धार धुधकारि धरा — दिसि काटति कावा।
सगर सुतनि के पाप—ताप पर बोलति धावा।

कभी गंगा की धारा तेजी के साथ नीचे की ओर दौड़ती है । कभी हरहराती और लहराती हुई सौ योजन तक चली आती है —

कबहुँ सु धार अपार बेग नीचे कौ धावै।
हरहराति लहराति सहस जोजन चलि आवै।

गंगा की इस तीव्र गति के कारण पानी उछल—उछल कर तथा टकरा—टकराकर बूँदों (मोतियों) के रूप में बिखरने लगता है, तब ऐसा प्रतीत होता है मानों ब्रह्मा रूपी चतुर किसान, गति रूपी अनुकूल पवन प्राप्त करके पुण्य रूपी क्षेत्र में उत्पन्न, बूँद रूपी हीरे की राशि को उसा रहा हो—

मनु विधि चतुर किसान पौन निज मन कौ पावत।
पुन्य देस उत्पन्न हीर की रासि उसावत।।

भारतेन्दु के पिता श्री गोपालचन्द्र 'गिरिधारन', लाला भगवान दीन, अर्जुन दास केडिया, जगन्नाथ प्रसाद भानु तथा शिवकुमार केडिया ने गंगा सम्बन्धी कुछ स्फुट छन्दों की रचना की है ।

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपने नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' में गंगा पर बड़ी सुन्दर कविता लिखी है । गंगा की 'नव उज्ज्वल जलधार' हीरे के हार की तरह शोभित है। इस धारा के मध्य रह—रहकर उछलने वाली बूँदें ऐसी लग रही हैं मानों कोई उस हार में मोती पिरो रहा हो —

नव उज्ज्वल जलधार हार हीरक सी सोहति।
बिच बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता मनि पोहति।।
लोल लहर लहि पौन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नरगन मन विविध मनोरथ करत मिटावत।।

गंगा स्वर्ग सोपान सदृश हैं । इनके दर्शन, मज्जन तथा पान से त्रिविध ताप दूर हो जाते हैं –

सुभग स्वर्ग सोपान सरिस सब के मन भावत।
दरसन मज्जन पान त्रिविध भय दूर मिटावत।।

भारतेन्दु ने अपनी इस कविता में काशी के गंगा तट का बड़ा सजीव वर्णन किया है। गंगा में स्नान कर रही सुन्दरियों के सौन्दर्य का तो कहना ही क्यां –

धोवत सुंदरि बदन करन अति ही छवि पावत।
वारिधि नाते ससि कलंक मनु कमल मिटावत।।

गंगा का सौन्दर्य वर्णनातीत है। दृष्टि जहाँ–जहाँ जाती है, वहीं ठहर जाती है –

दीठि जही जहँ जात रहत तितही ठहराई।
गंगा छवि हरिचन्द कछू बरनी नहिं जाई।

छायावाद के कवि सुमित्रानन्दन पंत ने 'नौकाविहार' कविता में गंगा का तापस बाला के रूप में बड़ा सुन्दर मानवीकरण किया है–

सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल
लेटी हैं श्रांत, क्लांत निश्चल
तापस बाला गंगा निर्मल, शशि मुख से दीपित मृदु करतल,
लहरें उर पर कोमल कुंतल।
गोरे अंगों पर सिहर–सिहर, लहराता तार तरल सुन्दर
चंचल अंचल–सा नीलाम्बर।
साड़ी की सिकुड़न सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से भर
सिमटी है वर्तुल, मृदुल लहर।

देश के ही नहीं अपितु विदेश के रचनाकारों को भी गंगा ने अपनी ओर आकृष्ट किया है । चेक गणराज्य के निवासी प्रसिद्ध हिन्दी कवि श्री

ओदोलेन स्मेकल तो गंगा के परम भक्त थे । जब भी वे हरिद्वार आते थे माँ गंगा का दर्शन–पूजन अवश्य करते थे । गंगा पर उन्होंने कई सुन्दर कविताएँ लिखी हैं । एक उदाहरण देखें –

री नदी पावन, आशीष दे
एक ही अवगाहन तेरी धाराओं में
है प्राण भर के लिए
सुधि लुभावन
अधिक नहीं
तो मात्र एक बार
जग के लिए पुनः खोलूँ
तेरे अमृत द्वार

जीवन से विदा लेता हुआ कवि गंगा के असीम प्रेम से भर जाता है। उसकी यही कामना है कि माँ गंगा सुखी रहे और उसकी धारा चिरकाल तक यों ही बहती रहे –

गंगे
मुझे अब है प्रस्थान
करना
तू यहाँ सुखी रह
मुझे सचमुच है जाना
तू यहाँ चिर–चिर बह।

कवि की यही हार्दिक इच्छा थी कि मरने के बाद उसकी देह गंगा तट पर ही क्षार कर दी जाय, पर उनकी यह इच्छा पूरी न हो सकी । अभी कुछ दिनों पूर्व अपने देश में उनका निधन हो गया । कविता देखें –

जिस क्षण
जीवन की छवियाँ
छूने में समर्थ न हो पाऊँ
अस्ताचलगामी
सूरज को न देख पाऊँ
साँस का यह हिंडोला
चाहकर भी न हिला पाऊँ
उसी क्षण मेरी देह

पवित्र मां गंगा के तट पर
क्षार कर देना।

देश–विदेश के अन्य बहुत से रचनाकारों ने गंगा की महिमा में उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया है, पर विस्तार भय से उन सबका उल्लेख सम्भव नहीं है । मेरी यही हार्दिक् कामना है कि गंगा अपने निर्मल रूप में यों ही सतत् प्रवाहित होती रहे और कवियों को काव्य रचना की प्रेरणा देती रहे ।

18

हिन्दी नवगीत और उसके प्रमुख हस्ताक्षर

हिन्दी नवगीत न तो कोई स्वतंत्र काव्य विधा है, और न ही कोई काव्यान्दोलन, वरन् यह नई कविता के साथ–साथ प्रवाहित होने वाली विशिष्ट काव्यधारा है। इसकी अवधारणा बहुत पुरानी नहीं है। सामान्यतः सन् 1950 के बाद लिखे गए एक विशेष प्रकार के गीतों को ही नवगीत की संज्ञा दी गयी। अधिकांश आलोचकों ने नवगीत का जन्म छठें दशक में स्वीकार किया है। 'गीतांगिनी' (1958) राजेन्द्र प्रसाद सिंह, 'लेखनी बेला' (1958) वीरेन्द्र मिश्र, 'क्वार की साँझ' (1958) रामनरेश पाठक तथा 'वंशी और मादल' (1960) ठाकुर प्रसाद सिंह आदि कृतियों के प्रकाशन से नवगीत को विधिवत् प्रामाणिकता मिली ।

सर्वप्रथम राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने इस गीतविधा को नवगीत नाम दिया। उन्होंने 'गीतांगिनी' के सम्पादकीय में न केवल इस शब्द का प्रयोग किया बल्कि स्वयं तथा अपने सहयोगियों के प्रयास से इसका तात्त्विक विवेचन – विश्लेषण भी किया । तभी से अपनी विशिष्टता के कारण 'नवगीत' शब्द का प्रचलन हो गया और सन् 1956 – 58 के बाद लिखे जाने वाले एक विशिष्ट ढंग के गीतों को नवगीत की संज्ञा दी जाने लगी ।

डा0 शंभुनाथ सिंह ने नवगीत की उपयुक्तता को प्रमाणित करते हुए लिखा है– "नवगीत स्वतंत्रता– प्राप्ति के बाद के तीन दशकों में विकसित वह नवीन काव्यधारा है जो एक ओर तो पारम्परिक गीत धारा से नितान्त भिन्न है, दूसरी ओर समसामयिक नयी कविता से कथ्य और शिल्प दोनों स्तरों पर, पूरी तरह अलग हटी हुई है। मात्र गीत कहने से उसकी पहचान खो जाती है और नयी कविता कहने से उसकी अस्मिता ही लुप्त हो जाती है, अतः नवगीत ही उसका एकमात्र सार्थक नाम है।"

(नवगीत दशक–2, पृ0 14)

नई कविता और नवगीत के सम्बन्धों को लेकर भी काफी चर्चा हुई। अज्ञेय, धर्मवीर भारती, माहेश्वर तिवारी तथा देवेन्द्र कुमार नवगीत को नई कविता से अलग नहीं मानते। माहेश्वर तिवारी लिखते हैं– "नयागीत नयी कविता की भीतरी संवेदना का अभिव्यक्त रूप है, उसके खुरदरे व्यक्तित्व

के भीतर की मुलायम पर्त है। वह अपने में कोई स्वतंत्र काव्य विधा नहीं है और न ही नयी कविता के आगे की कोई उपलब्धि है।"

(संबोधन,' अक्टूबर – 1966)

ठाकुर प्रसाद सिंह, डा0 नामवर सिंह तथा महावीर प्रसाद दाधीच नवगीत को नयी कविता के समानान्तर रखते हैं। महावीर प्रसाद दाधीच तो दावे के साथ कहते हैं कि– "नवगीत नयी कविता नहीं हो सकता .... नवगीत नयी कविता हो ही नहीं सकता, उसका एक अंग होना भी उसके लिए कठिन है। नवगीत को नयी कविता होना भी नहीं चाहिए । नवगीत को नयी कविता बनाने का प्रयत्न ही आत्मघाती सिद्ध होगा।"

('आधुनिकता और भारतीय परम्परा', गीत : एक विवेचन, पृ0–93)

भवानी प्रसाद मिश्र, डा0 रवीन्द्र भ्रमर तथा राजेन्द्र प्रसाद सिंह ने नवगीत को नई कविता का पूरक स्वीकार किया है। डा0 रवीन्द्र भ्रमर के शब्दों में– "नवगीत को नयी कविता के विरोध में ग्रहण करना एक भ्रान्ति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। नवगीत के विकास– इतिहास में प्रयोगशील कविता का पर्याप्त योग रहा है। नवगीत वस्तुतः नयी कविता का पूरक है।..... दोनों वर्तमान कविता की श्रृंखलाएँ हैं और दो स्वतंत्र प्रकार के भाव–क्षणों का अंकन करने के लिए दोनों की समान रूप से आवश्यकता है। मन को आन्दोलित कर देने वाले रागात्मक क्षणों की अभिव्यक्ति के लिए गीत–रूप जरूरी है तो वैज्ञानिक यथार्थ से परिचालित विवेकशील अनुभूतियों के लिए नयी कविता का सृजन अपेक्षित है।"

(धर्मयुग, 2 जनवरी, 1966)

नवगीत पर चर्चा– परिचर्चा का लम्बा दौर चला। वासन्ती पत्रिका में प्रकाशित शंभुनाथ सिंह, रामदरश मिश्र, वीरेन्द्र मिश्र और रवीन्द्र भ्रमर आदि के लेखों से नवगीत के स्वरूप पर प्रकाश पड़ा। 1964 में प्रकाशित 'कविता–64' (सम्पा0 ओम प्रभाकर और भागीरथ भार्गव) में भी नवगीत को काफी महत्त्व दिया गया । वातायन पत्रिका (सम्पा0 हरीश भादानी) ने 1964, 65 तथा 66 में गीत अंक प्रकाशित किये । इन्ही दिनों नवगीत से जुड़े रचनाकारों के गीत संग्रह भी प्रकाश में आये जिन्होंने नवगीत की विकास यात्रा में महत्वपूर्ण योग दिया । इनमें 'आओ खुली– बयार (राजेन्द्र प्रसाद सिंह) 'वंशी और मादल' (ठाकुर प्रसाद सिंह), 'बैरंग बेनाम चिट्ठियाँ'

(रामदरश मिश्र), 'मेंहदी और महावर' (उमाकान्त मालवीय), 'अविराम चल मधुवन्ती' (वीरेन्द्र मिश्र) 'रवीन्द्र भ्रमर के गीत', (रवीन्द्र भ्रमर), 'गीत विहग उतरा' 'हरापन नहीं टूटेगा' (रमेश रंजक) आदि मुख्य हैं ।

'नवगीत' के कई समवेत संकलन भी प्रकाशित हुए जिनमें कविताओं के साथ समीक्षात्मक सामग्री भी दी गई है। इनमें 'गीत – 1' (1966) सम्पा0– दिनेश सक्सेना, 'गीत – 2' (1967) – भूपेन्द्र कुमार स्नेही, 'पाँच जोड़ बाँसुरी' (1969) सम्पा0 चन्द्रदेव सिंह, 'नवगीत : सर्जन और समीक्षा' (1980) सम्पा0 माहेश्वर तिवारी, देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', डा0 भगवान शरण भारद्वाज, 'नवगीत दशक– 1' (1982), 'नवगीत दशक–2' (1983) 'नवगीत दशक – 3' (1984), नवगीत अर्द्धशती (1986) सम्पा0 डा0 शंभुनाथ सिंह, 'यात्रा में साथ–साथ' (1984) सम्पा० देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' प्रमुख हैं ।

'नवगीत' प्रगीत परम्परा के अभिनव सोपान हैं । इनका अपना स्वतंत्र अस्तित्व है साथ ही अपनी प्रवृत्तिगत तथा शिल्पगत विशेषताएँ भी हैं । हालाँकि नवगीत के प्रथम चरण (1950 से 1965 तक) में इसकी प्रवृत्तियाँ उभरकर सामने नहीं आयी थीं पर इसके द्वितीय चरण (1965 के बाद) में इनका रूप स्पष्ट निखर आया था । संक्षेप में नवगीत की प्रवृत्तियों को इस प्रकार देखा जा सकता है– 1. जनधर्मी अन्तर्वस्तु, 2. व्यवस्था विरोध का स्वर, 3. सौन्दर्य के प्रति नवीन दृष्टि, 4. अन्तरंग अनुभूतियों की सहजता 5. प्रणय सम्बन्धी नयी दृष्टि, 6. महानगरीय संत्रास, 7. प्रकृति : सापेक्षता का माध्यम, 8. लोकगीतों की मिठास, 9. सम्प्रेषण की नयी भंगिमाएँ, 10. संक्षिप्तता के प्रति आग्रह, 11. छन्द सम्बन्धी नयी दृष्टि, 12. बिम्ब, प्रतीक तथा अप्रस्तुत योजना सम्बन्धी नवीनता ।

'नवगीत' की जनधर्मिता का फलक बहुत व्यापक है। नवगीतकार जहाँ महानगरीय जीवन की विसंगतियों को रेखांकित करता है, वहीं ग्रामांचल का भी यथार्थ चित्रण करता है। राजेन्द्र प्रसाद सिंह तथा रमेश रंजक ऐसे ही नवगीतकार हैं जिन्होंने मजदूरों तथा किसानों के जीवन का इतिहास पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किया है। राजेन्द्र प्रसाद सिंह के गीत की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

दादा पेरे गए ईख कोल्हू में
बापू पिसते रहे तेल की घानी में
बोरी ढ़ोते चचा, धनुहिया हुई कमर

अपनी पसली हँसिया हुई जवानी में ।

(आइना, 19–20, पृ0 13)

सातवें दशक के नवगीत में व्यवस्था – विरोध का स्वर भी मुखरित हुआ है। आजादी मिलने के बाद भी लोगों की आशाएं पूरी नहीं हुईं। भयावह वस्तुस्थिति का पता रवीन्द्र भ्रमर की इन पंक्तियों से होता है–

रक्षकों की पहन कर वर्दी
राजपथ पर खड़े हैं बटमार
भेड़ियों के मुँह लगा है खून
चल रहा है मरण का व्यापार
राक्षसों के हाथ पहरा है।

(सोनमछरी मनबसी पृ0–95)

नवगीतकारों ने जनसाधारण को इस तरह के जन विरोधी तत्वों से सावधान रहने को भी कहा है –

भेड़िये जो दे रहे
भाषण अहिंसा के
हैं फरेबी
आदमी के खून के प्यासे
जुल्म, इनके जिस्म का विस्तार
बंधु रहना हर तरह तैयार

(अम्मा का खत, अश्वघोष, पृ0–10)

नवगीतकारों का सौन्दर्य के प्रति नया दृष्टिकोण रहा है। वे छायावादी कवियों की भाँति सौन्दर्य को वायवीय और काल्पनिक नहीं मानते बल्कि उसकी भोगपरकता को अंगीकार करते हैं । सौन्दर्य सम्बन्धी यह धारणा नवगीतकारों में एक फैशन परस्ती न होकर स्वस्थ दृष्टिकोण के आग्रह को दर्शाती है।

नवगीतकारों में अन्तरंग अनुभूतियों की सहजता भी देखने को मिलती है। जन–जीवन का सौन्दर्य चित्रित करने में वह अपनी अंतरंग अनुभूतियों को भूल नहीं जाता । पर वह छायावादी कवियों की तरह कल्पना लोक में विचरण करता हुआ अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्त नहीं करता बल्कि

यथार्थ लोक में भ्रमण करता हुआ भोगे हुए आत्मपरक सत्यों का उद्घाटन करता है। बाल स्वरूप राही की ये पंक्तियां द्रष्टव्य हैं –

चाहे वे कड़वी हों, चाहे वे हों असत्य
मुझको तो प्यारी हैं वे ही अनुभूतियाँ
जो नितान्त मेरी हैं।

(जो नितान्त मेरी हैं, पृ0–78)

अधिकांश नवगीतकारों ने प्रणय को व्यापक दृष्टि से देखा । पर उनका प्रणय छायावादी कवियों की तरह आध्यात्मिक नहीं बल्कि मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित है। जहाँ वह शहरी जीवन से जुड़ा है वहाँ बौद्धिकता से सम्प्रेषित है, और जहाँ लोक जीवन का स्पर्श करता है वहाँ अपनी महिमा और गरिमा से युक्त है। नवगीतकारों में कहीं–कहीं प्रेम के अंतरंग क्षणों की अनुभूतियों, प्रेम की ऊब तथा वासना की सहज अनिवार्यता के भी चित्र मिलते हैं ।

नवगीत में महानगरीय संत्रास भी उभर कर आया है। मूल्यहीनता, कुंठा, तनाव, निराशा, ऊब, घुटन, भागम–भाग, भीड़–भाड़ आदि का चित्रण नवगीतकारों ने बड़ी कुशलता से किया है। चन्द्रसेन विराट की ये पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

इन ओढ़े हुए मुखौटों पर संशय
यह महज औपचारिकता, यह अभिनय
जीविका हेतु यान्त्रिकी व्यस्तताएँ
अपराध, पतन या नैतिक हत्याएँ
नारे, सभा, जुलूस, प्रदर्शन–क्रोध
त्रास, तनाव, यह उत्पीड़क युगबोध ।

(साप्ताहिक हिंदुस्तान, 4 जून 1967)

नवगीतकारों ने प्रकृति को अन्तरंग चेतना के माध्यम से अभिव्यक्ति दी है। नवगीतों में वह मानव के सुख–दुख की सहभागिनी हो गयी है। कहीं–कहीं तो वह मानवीय रूप भी धारण करती हुई दिखाई पड़ती है। नवगीतकारों ने प्रकृति के आलम्बन रूप – चित्रण के अतिरिक्त अछूते प्रतीक और जीवन्त बिम्बों को भी प्रस्तुत किया है। एक उदाहरण देखें –

दूध से नहा रही निर्वसना चाँदनी
किरण में निचोड़ धवल मरमर की शिला पर
वसन को सुखा रही निर्वसना चाँदनी।

(चंद्रसेन विराट, कादंबिनी, जनवरी – 1967)

नवगीतकारों ने अपने गीतों में लोकगीतों के माधुर्य को समाहित करने का महनीय प्रयास किया है। डा0 राम दरश मिश्र के शब्दों में – "इन गीतों में लोकजीवन के साथ अत्यधिक समीपता है किन्तु उनमें लोकजीवन या लोकगीतों का प्रभाव एक फैशन के रूप में नहीं है या उनका आन्दोलनकारी विस्तृत और पूर्व नियोजित स्वर नहीं है। ये गीत जीवन के छोटे–छोटे किन्तु सूक्ष्म संवेगों के स्तरों को उद्घाटित करने वाले हैं । आकार में छोटे हैं, जैसे नई कविता के फ्लैसेज ।"

(आज का हिंदी साहित्य : संवेदना और दृष्टि, पृ0–110)

नवगीतकारों ने लोकगीतों की मिठास को दो रूपों में लिया है, एक तो आंचलिक शब्दावली द्वारा और दूसरा लोकगीतों की धुनों द्वारा । राजेन्द्र प्रसाद सिंह, रवीन्द्र भ्रमर, रामदरश मिश्र आदि के गीतों में लोकगीतों के बहुत से तत्त्व संश्लिष्ट रूप में मिलते हैं । राजेन्द्र सिंह के एक गीत का उदाहरण देखें, जिसमें कथ्य तो नवगीत का है, लेकिन उसकी कुछ पंक्तियाँ धोबियों के लोकगीत पर आधारित हैं –

छियो राम छियो राम छियो
जियो राम जियो राम जियो
न यह समझो । किसी ने दिया
व हमने ले लिया –
अजब उलझन – भरा नक्शा
दहकती जिन्दगी का

(आइना–19–20, पृ0 15)

नवगीतकारों ने कई तरह के प्रयोग करके अपनी अभिव्यंजना को सम्प्रेषणीय बनाया है। कहीं तो लोकधुनों को अपनाया है तो कहीं पद शैली या दोहा छंद से युक्त मुक्तक शैली को । नवगीतकारों ने गजल के शिल्प का भी उपयोग किया है। अर्थात् अभिव्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार का खतरा उठाने में वे पीछे नहीं हैं ।

संक्षिप्तता भी नवगीतों की एक प्रमुख प्रवृत्ति है। क्योंकि नवगीतकार जीवन की क्षणिक और यथार्थ अनुभूति का चित्रण करता है पर इससे उसकी रचना की सजीवता में कमी नहीं आती। सहजता, स्वाभाविकता तथा एकान्विति के लिए ही नवगीतकारों ने संक्षिप्तता को अपनाया है ।

नवगीतकारों ने अपनी काव्यभाषा में भी परिवर्तन किया है। उन्होंने काव्य भाषा को एक कुहासे से निकालकर उसे स्पष्ट बिम्बात्मक स्वरूप प्रदान किया है। नवगीत की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने एक ओर भाषा के सौन्दर्यपरक गुणों में वृद्धि की है, दूसरे अभिव्यक्ति की सक्षमता का उसने पूरा निर्वाह किया है।

नवगीतकारों ने जीवन के हर क्षेत्र से शब्दों का चयन किया है। वस्तुतः शब्द चयन के पीछे कवियों की अपनी मानसिकता भी सक्रिय रही है। कुछ गीतकार जहाँ संस्कृतनिष्ठ भाषा का प्रयोग करते हैं (जैसे–घनश्याम अस्थाना, देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र', वीरेन्द्र मिश्र, राजेन्द्र गौतम, योगेन्द्र दत्त शर्मा आदि) तो कुछ आंचलिक शब्दों से युक्त भाषा का (जैसे–शंभुनाथ सिंह, नईम और अनूप)। माहेश्वर तिवारी और रमेश रंजक ने सहज भाषा का प्रयोग किया है। नवगीत की भाषा के वैशिष्ट्य को स्पष्ट करते हुए डा0 शंभुनाथ सिंह ने लिखा है– "नवगीत की भाषिक– संरचना अपनी सहजता, सुबोधता, अकृत्रिमता और लोकोन्मुखता के कारण नयी कविता की अभिजात संस्कारों वाली भाषा तथा पारस्परिक गीतों की गलदश्रु भावुकता वाली काव्य भाषा से नितान्त भिन्न और विशिष्ट है। वह लोकाश्रित भाषा है जिसमें आंचलिक बोलियों के शब्दों एवं मुहावरों का निस्संकोच प्रयोग हुआ है। किन्तु लोकभाषा से जुड़ी होकर भी वह अपनी भंगिमा और तेवर के कारण विशिष्ट और अर्थवत्ता की अनन्त संभावनाओं से युक्त है।

(नवगीत दशक : 2, पृ0–16)

नवगीत समृद्ध बिम्बों का काव्य है। डा0 शंभुनाथ सिंह ने बिम्ब को नवगीत के शिल्प की प्रमुख विशेषता माना है। उनका कथन है– नवगीत पूर्णतः बिम्बधर्मी काव्य है............ किन्तु उसके बिम्ब पूर्ववर्ती कविता के समान अलंकृत, अनुकृत, रूढ़ अथवा काल्पनिक नहीं हैं । उसमें या तो ऐसे प्रातिभ बिम्बों का प्रयोग हुआ है जो पश्यन्ती वाक् के स्तर से अभिव्यक्त होने के कारण सर्वथा नवीन, अछूते और अकल्पनीय हैं या उसमें अधिकतर यथार्थ जगत के अनुदघाटित आयामों के अप्रयुक्त बिम्ब प्रयुक्त हुए हैं, जैसे

वैज्ञानिक और औद्योगिक क्षेत्र के जीवन बिम्ब, महानगरों के त्रासद और नाटकीय बिम्ब, ठेठ ग्रामीण अंचलों एवं वन – पर्वतों के आदिम तथा मिथकीय बिम्ब, भोगी हुई जीवनानुभूतियों के संश्लिष्ट बिम्ब, उस चेतन के अंधकार में निहित वासनाओं के छद्म रूपों के खंडित एवं प्रतीकात्मक बिम्ब तथा राजनीतिक – सामाजिक विसंगतियों और विडम्बनाओं के सांकेतिक और छन्दात्मक बिम्ब । इन बिम्बों की पहचान ही नवगीत की सही पहचान है।''

(नवगीत दशक : 2, पृ0–16)

डा0 शंभुनाथ सिंह की ही कविता से श्रव्य एवं दृश्य संवेदनों का मिश्रित रूप प्रस्तुत करने वाले बिम्ब का उदाहरण देखें –

सरसराती उड़ानें इधर से उधर
थरथराती हुई हर गली हर डगर
छोड़कर घर सभी हो गए लापता
सामने है पड़ा एक सूना नगर ।

(नवगीत दशक :1, पृ0–134)

नवगीतों में कुछ स्थलों पर प्रतीकों का भी प्रयोग हुआ है। इन प्रतीकों का चयन जीवन के वैविध्य से किया गया है। नवगीतों में बिम्बात्मक–प्रतीकों का प्रयोग माहेश्वर तिवारी ने किया है।

एक नव्य अप्रस्तुत योजना का संधान नवगीतकारों की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। प्रत्येक नवगीतकार की अप्रस्तुत योजना एक मौलिकता लिए हुए है। कुछ अप्रस्तुत द्रष्टव्य हैं– बत्तखों सी तैरती क्वार की पुरवइया', 'विज्ञापन सी सुबह', 'कालगर्ल–सी रात', 'मृग–सी छलनाएँ', 'क्षण के बंजारे', 'संकल्पों के पाँव', ओस की बूँदों सरीखी नम उदासी' आदि।

नवगीतकारों की छंद सम्बन्धी दृष्टि भी नयी है। उनकी आसक्ति मुक्त छंद की ओर अधिक रही है। निराला की उदात्त छंद – योजना का प्रभाव नवगीतकारों पर सर्वाधिक पड़ा है। नवगीतकार लयाश्रित छंद योजना का अधिक प्रयोग करते दिखाई देते हैं । देवेन्द्र शर्मा तथा वीरेन्द्र मिश्र ने कवित्त छंद से निःसृत लयों पर आधारित छंदों का अधिक प्रयोग किया है। नवगीत के अनेक छंद उर्दू बहरों से भी प्रभावित हैं । राजेन्द्र गौतम के शब्दों में– ''नवगीत के छन्द– विधान की जो विशेषताएँ हमारा ध्यान आकर्षित

करती हैं वे हैं– लयों की विविधता, आन्तरिक गठन, सहज प्रवाह, निर्दोषता, परम्परा विनिर्मुक्तता, औदात्य और पौरूष । ये विशेषताएँ नवगीत की छान्दसिक चेतना का निजी व्यक्तित्व एवं अस्तित्व प्रमाणित करती हैं ।"

(हिंदी नवगीतः उद्‌भव और विकास, पृ0 169–170)

अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण नवगीत की एक अलग पहचान बन पायी है।

नवगीत के प्रमुख हस्ताक्षर

हिन्दी नवगीत ने विकास की एक लम्बी यात्रा तय कर ली है। परिचित–अपरिचित अनेक नवगीतकारों ने अपनी लेखनी से इस काव्यधारा को समृद्ध किया है। इनकी सूची बड़ी लम्बी है। यहाँ हिन्दी नवगीत के कुछ प्रमुख हस्ताक्षरों का ही परिचय दिया जा रहा है –

1. डा0 शम्भुनाथ सिंह

हिन्दी नवगीत की विकास यात्रा में डा0 शम्भुनाथ सिंह की भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। इस यात्रा में उनकी सक्रियता तीन रूपों में देखने को मिलती है– 1. नवगीतकार के रूप में 2. नवगीत के समीक्षक के रूप में 3. नवगीत के सम्पादक के रूप में । उनके काव्य की पहचान जिन कृतियों से होती है, वे हैं – रूपरश्मि (1941), छायालोक (1945), उदयाचल (1946), मन्वन्तर (1948), दिवालोक (1951), माध्यम मैं (1959), खण्डित सेतु, समय की शिला पर (1968), जहाँ दर्द नीला है (1977) तथा वक्त की मीनार (1986) ।

सम्पूर्ण नवगीत को वृहत् परिप्रेक्ष्य प्रदान करने के लिए उन्होंने प्रतिनिधि नवगीतों के सम्पादन का गुरुतर दायित्व भी उठाया है । डा0 सिंह ने छठें, सातवें एवं आठवें दशकों में उभरने एवं स्थापित होने वाले तीस प्रतिनिधि गीतकारों के चुने हुए नवगीतों का तीन खण्डों में सम्पादन कर ऐतिहासिक महत्त्व का कार्य किया है। ये ग्रंथ हैं – नवगीत दशक – 1 (1982), नवगीत दशक–2 (1983) तथा नवगीत दशक– 3 (1984) ।

"नवगीत दशक–1 में स्वातंत्र्योत्तर युग के प्रथम दशक में उभरे दस प्रमुख नवगीतकारों के आज तक के सर्वोत्तम गीतों में से चुने हुए गीतों का संकलन किया गया है। (नवगीत दशक–1, पृ0–5)

ये नवगीतकार हैं – 1. नईम 2. सोम ठाकुर 3. देवेन्द्र शर्मा 4. देवेन्द्र कुमार 5. भगवान स्वरूप 'सरस' 6. उमाकान्त मालवीय 7. शिवबहादुर सिंह भदौरिया 8. रामचन्द्र भूषण 9. ठाकुर प्रसाद सिंह 10. शम्भुनाथ सिंह ।

'नवगीत दशक – 2' के कवि हैं – 1, शिकुमार 2. अनूप अशेष 3. राम सेंगर 4. ओम प्रभाकर 5. उमाशंकर तिवारी 6. कुमार रवीन्द्र 7. गुलाब सिंह 8. श्रीकृष्ण तिवारी 9. माहेश्वर तिवारी 10. अमरनाथ श्रीवास्तव ।

'नवगीत दशक– 3' में जिन नवगीतकारों को स्थान मिला है, वे हैं– 1. अखिलेख कुमार सिंह 2. राजेन्द्र गौतम 3. डा0 सुरेश 4. सुधांशु उपाध्याय 5. विजयकिशोर मानव 6. योगेन्द्र दत्त शर्मा 7. जहीर कुरेशी 8. बुद्धिनाथ मिश्र 9. दिनेश सिंह 10. विनोद निगम ।

एक आलोचक के रूप में डा0 शंभुनाथ सिंह ने ज्यादा तो नहीं लिखा, परन्तु जितना लिखा है– वह नवगीत के स्वरूप को स्पष्ट करने में बहुत सहायक सिद्ध हुआ है। नवगीत दशक के तीनों खण्डों की विस्तृत भूमिकाओं के अतिरिक्त अपनी आलोचना पुस्तक 'प्रयोगवाद और नयी कविता' में उन्होंने नवगीत की विशेषताओं को दिग्दर्शित कराया है।

डा0 सिंह की गीत यात्रा के कई पड़ाव हैं । 'दिवालोक' से पूर्व के उनके गीत पारम्परिक हैं। बाद के उनके गीतों में आधुनिक– बोध की झलक दिखायी देती है। 'माध्यम मैं' के उनके गीतों में लोकोन्मुखता, आंचलिकता तथा प्रकृतिपरकता की प्रवृत्ति मिलती है। 'नवगीत दशक– 1' के उनके गीतों में व्यंग्य का स्वर प्रमुख है। डा0 सिंह के गीतों की अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है नगरबोध की तीखी अभिव्यक्ति। उनके गीतों का शिल्प पक्ष भी उतना ही प्रबल है। वे सहज एवं बोलचाल की भाषा तथा आंचलिक एवं लोकपरक शब्दावली के पक्षधर रहे हैं। आठवें दशक के गीतों में उन्होंने सामयिक मुहावरों को अपनाया है। उनके बिम्ब–प्रतीक सम्पन्न हैं जो भाषा को अर्थगत गाम्भीर्य और शक्ति प्रदान करते हैं । उनके जिन गीतों को पर्याप्त ख्याति मिली, उनमें से कुछ की महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ इस प्रकार हैं –

समय की शिला पर मधुर चित्र कितने
किसी ने बनाये, किसी ने मिटाये ।

भटकती हुई राह में वंचना की
रुकी श्रान्त हो जब लहर वेदना की,
तिमिर–आवरण ज्योति का वर बना तब
कि टूटी तभी श्रृंखला साधना की ।
नयन–प्राण के रूप के स्वप्न कितने,
निशा ने जगाये, उषा ने सुलाये ।

(समय की शिला)

मन का आकाश उड़ा जा रहा,
पुरवैया धीरे बहो ।
बीती बातों पर सर टेक कर,
टेर रहा मन भूली नींद को ।
धूप–छाँह की गंगा – जमुना में ,
डुबो रहा हँस–हँस उम्मीद को ।
अपना विश्वास घटा जा रहा
पुरवैया धीरे बहो ।

(माध्यम मैं, पृ0–62)

बगिया में नाचेगा मोर,
देखोगा कौन ?
तुम बिन ओ मेरे चितचोर
देखोगा कौन ?

(नवगीत दशक–1, पृ0–142)

2. राजेन्द्र प्रसाद सिंह

'गीतांगिनी' के सम्पादक राजेन्द्र प्रसाद सिंह को नवगीत शब्द का प्रथम प्रयोक्ता होने का गौरव प्राप्त है। इसके साथ ही वे नवगीत की विकास–यात्रा के सक्रिय सहचर रहे हैं। 'आइना' जैसी पत्रिका के नवगीत विशेषांकों और 'नवगीत सप्तदशक' का सम्पादन करके उन्होंने इस संदर्भ में अपनी प्रतिबद्धता का परिचय दिया है। 'आओ खुली बयार' (1962), 'भरी सड़क पर' (1980), 'रात आँख मूँदकर जगी' (1980) और 'गजर आधी रात का' (1981) इनके नवगीत संग्रह हैं। इनके द्वारा सम्पादित 'गीतांगिनी' (1958) का ऐतिहासिक महत्त्व है। इसे नवगीत यात्रा का प्रथम महत्वपूर्ण

पड़ाव माना जाता है। इसमें निराला से लेकर उदय खन्ना तक कुल 74 कवियों के गीत संकलित हैं ।

राजेन्द्र प्रसाद सिंह के गीतों में उनका लोकदर्शन तथा मानवतावादी चिन्तन मुखर हुआ है। उनके बाद के गीतों में लोकधर्मी चेतना का विन्यास बड़े सलीके से हुआ है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

बौर की महक से माती चाँदनी जगी थी
उस रात, ओ सनेही ।
तूने कही थी एक बात ओ सनेही ।

बाद में राजेन्द्र सिंह का जुड़ाव जनवादी खेमे से हो गया और वे जनबोधी या जनवादी रचनाकार हो गये ।

3. वीरेन्द्र मिश्र

हिन्दी नवगीतकारों में वीरेन्द्र मिश्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनके प्रकाशित गीत संकलन हैं– 'गीतम' (1953) 'लेखनी बेला' (1957), अविराम चल मधुवंती (1967), 'झुलसा है छाया नट धूप में' (1980), 'धरती गीताम्बरा' (1980) तथा 'शांति गंधर्व' (1984) । इसके अतिरिक्त उनके बहुत से गीत पत्र–पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं । नवगीतकार के रूप में प्रसिद्धि इन्हें 'अविराम चल मधुवंती' से मिली। इसमें आंचलिकता–प्रधान और युग की समस्याओं से जुड़े कई सुन्दर गीत हैं । 'झुलसा है छाया नट धूप में' के गीत यथार्थोन्मुखी चेतना से सम्पृक्त हैं । मिश्र जी के कई बहुत अच्छे गीत 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में प्रकाशित हुए । एक उदाहरण देखें –

पीर मेरी कर रही गमगीन मुझको
और उससे भी अधिक तेरे नयन का नीर रानी
और उससे भी अधिक हर पाँव की जंजीर रानी ।

(त्रिमुखी पीड़ा)

मिश्र जी के गीतों में शिल्पगत वैविध्य मिलता है। शिल्पगत–विशेषतः छंद सम्बन्धी – जितने प्रयोग इन्होंने किये, उतना सम्भवतः किसी समकालीन कवि ने नहीं किया ।

4. देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र'

देवेन्द्र शर्मा 'इन्द्र' हिन्दी के सशक्त नवगीतकार हैं । अब तक इनके पाँच गीतसंग्रह प्रकाशित हुए हैं – 1. 'पथरीले शोर में' (1972) 2. 'पंख कटी महराबें' (1978) 3. 'कुहरे की प्रत्यंचा' (1979) 4. 'दिन पाटलिपुत्र हुए' (1988) 5. 'चुप्पी की पैजनियाँ' (1988)। इसके अतिरिक्त कई समवेत संकलनों में भी इनके गीत प्रकाशित हो चुके हैं । इन्द्र जी के गीतों में मध्यवर्ग की पीड़ा ही अधिक मुखरित हुई है। उन्हें अपनी असफलता का गहरा अहसास है। यह सम्भवतः आधुनिक जीवन की असंगतियों का ही परिणाम है जो कवि को लाचारी, पीड़ा, अकेलेपन, अवसाद, टूटन आदि के मनोभावों से भर देता है। पर वह टूटता नहीं –

हम नहीं ढहते किले की झुकी मेहराबें
हम उठेंगे आप जितना भी हमें दाबें
जन्म लेंगे नये बिम्बों में, प्रतीकों में
हम नयी ऋतु में नये अंकुर उगायेंगे ।

(दिन पाटलिपुत्र हुए, पृ0 104)

पुरा–संदर्भों को युग की संवेदना से जोड़ने की कला में इन्द्र जी को महारत हासिल है।

5. उमाकान्त मालवीय

नवगीतकार के रूप में उमाकान्त मालवीय जी को विशेष ख्याति मिली है। 'मेंहदी और महावर' (1963), 'सुबह रक्त पलाश की' (1976) तथा 'एक चावल नेह रींधा' (1983) इनके नवगीत संग्रह हैं । 'कविता–64', 'पाँच जोड़ बाँसुरी' तथा 'नवगीत दशक–1' में भी इन्हें स्थान मिला है । 'मेंहदी और महावर' के गीतों को मालवीय जी ने अपने आह्लाद क्षणों के गीत कहा है। 'सुबह रक्त पलाश की' के गीतों में युग की पीड़ा की अभिव्यक्ति है। मालवीय जी के गीतों की भाषा भावानुवर्तिनी है। वे अपने कुछ गीतों में पुराबिम्बों और पौराणिक संदर्भों की भी सृष्टि करते हैं। जनपदीय शब्दों के प्रयोग ने उनके गीतों को मिठास से भर दिया है। उनके कुछ गीतों में आधुनिक जीवन की विसंगतियों का भी चित्रण है। कुल मिलाकर उनकी गीत यात्रा एक संस्कार सम्पन्न सजग आधुनिकताबोध के कलाकार की यात्रा है। अपने श्रेष्ठ लेखन के माध्यम से

उन्होंने नवगीत को असीम समृद्धि प्रदान की है। उनके एक गीत की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं–

चन्द्रमा उगा गणेश चौथ का
माँ तुमने अर्घ्य दिया होगा मेरे लिए
दिन भर उपवास किया होगा मेरे लिए
बेटा परदेश में न सो सका
भरी–भरी आँख ही संजो सका ....

(मेंहदी और महावर)

6. रवीन्द्र भ्रमर

नवगीत की प्रतिष्ठा के लिए जिन समीक्षक रचनाकारों ने अथक संघर्ष किया उनमें रवीन्द्र भ्रमर का भी नाम है। उन्होंने न सिर्फ श्रेष्ठ नवगीतों की रचना की प्रत्युत् नवगीत की पुरजोर वकालत में अनेक समीक्षात्मक एवं शोधपरक आलेख भी प्रस्तुत किये । 'रवीन्द्र भ्रमर के गीत' (1962) और 'सोन मछरी मन बसी' (1980) उनके गीतों के संकलन हैं । उन्होंने 'गीत रामायण' की भी रचना की है। भ्रमर जी के गीतों में प्रीति और रोमानी तत्वों की प्रमुखता है। पर उनकी यह प्रीति–मूलक संवेदना व्यक्तिमुखी दायरों को तोड़कर अधिकाधिक समष्टि मुखी और लोकधर्मी ही रही है। पुराबिम्बों के प्रति भी उनका आकर्षण है। शिल्प–सौष्ठव तो उनके गीतों में है ही । एक उदाहरण –

अँजुरी में
बाँध लिए
जूही के फूल
मधुर गंध
मन की हर एक गली महक गयी
सुखद परस
रग–रग में चिनगी सी दहक गयी
रोम–रोम उग आये
साधों के शूल
जूही के फूल।

(रवीन्द्रभ्रमर के गीत, पृ0–12)

7. ठाकुर प्रसाद सिंह

नवगीतकारों में ठाकुर प्रसाद सिंह का नाम भी उल्लिखित किया जाता है। इनकी 'वंशी और मादल' (1959) कृति अपने प्रकाशन–काल से ही पर्याप्त चर्चा में रही है। इसके गीतों में लोक संवेदना का तत्व अपनी ताजगी और नवीनता के साथ उपस्थित हुआ है। इसमें आंचलिकता को प्रमुखतः प्रणय–संदर्भों में ही उकेरा गया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है–

सूनी तलैया की ओट में
डुबा दिया चोट ने
तीर लगे घायल कुरंग–सा
मन लगा लोटने
जामुन–सी काली इन भौहों की छाँह में
डूबे हम जा रहे
कब से हम गा रहे

(वंशी और मादल, पृ0–11)

8. श्रीपाल सिंह 'क्षेम'

'क्षेम' जी हिन्दी के चर्चित गीतकार हैं, जो अपनी गीत – साधना में नवगीत तक की यात्रा कर चुके हैं। इनके प्रकाशित कविता संग्रहों में 'जीवन तरी', 'नीलम ज्योति और संघर्ष' 'रूप तुम्हारा प्रीति हमारी', 'राख और पाटल' तथा 'अन्तर्ज्वाला' मुख्य हैं। क्षेम जी के गीतों में प्रेम और सौन्दर्य का चित्रण तो है ही, साथ ही गाँवों की सोंधी मिट्टी की महक भी पूरी सघनता के साथ रची–बसी है। गीत क्षेत्र में इनके साहित्यिक योगदान को देखते हुए कई समीक्षकों ने इन्हें गीतों का राजकुमार कहा है। इनके एक गीत की कुछ पक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

मानता कुछ सत्य ही इस विश्व का आधार है प्रिय
मानता हूँ सत्य पर गतिमान यह संसार है प्रिय
किन्तु निज में सत्य का आकार क्या है रूप क्या है
बीन है धरती हमारी सत्य तो झंकार है प्रिय ।

(नीलम, ज्योति और संघर्ष पृ0–58)

9. माहेश्वर तिवारी

इनका 'हर सिंगार कोई तो हो' गीत संग्रह प्रकाशित हुआ है। 'नवगीत दशक–2' तथा 'यात्रा में साथ–साथ' जैसे समवेत संकलनों के अतिरिक्त विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में अनेक गीत प्रकाशित हुए हैं। इनके गीत आकार में लघु होते हैं । गीत युगीन प्रासंगिकता को अभिव्यक्त करते हैं और इनकी इस अभिव्यक्ति में इनकी भाषा बड़ी सहायक है। आज के जीवन की शोषण--जन्य विसंगतियों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति देखें –

कौआ उड़कर बड़ी दूर से/आया लेकर दाने
घर के चूल्हों की बहदाली/लगा हमें समझाने
कैसे गौरैया/आँगन से रिश्ते तोड़ रही है
और बाज के खतरों से/अपने को जोड़ रही है।
कितने टिन की सन्दूकों के खाली हैं तहखाने ।

10. रामदरश मिश्र

मिश्र जी आरम्भ में अच्छे गीतकार रहे हैं । पर बाद में उनका रुझान कथा साहित्य की ओर हो गया । उनके ही गीत की ये पंक्तियाँ उनके रचनात्मक वैशिष्ट्य को रेखांकित करती हैं –

शब्दों पर शब्दों के चेहरे
अर्थों पर अर्थों के पहरे
पढ़ा नहीं जाता यह श्यामपट
अक्सर जिस पर लिखा गया हूँ।

मिश्र जी के गीतों की विशेषता बताते हुए डा0 महावीर सिंह चौहान ने लिखा है– "मिश्र जी के गीतों में जहाँ एक ओर नयी कविता की व्यक्ति संवेदना की एक निष्ठता है वहीं दूसरी ओर प्रगतिवाद की सामाजिक चेतना का अनुभवात्मक विस्तार भी है। यही कारण है कि वे अपने गीतों में जहाँ आधुनिकता की चुनौतियों का सामना करते हैं–नगरबोध, आत्मनिर्वासन और एकाकीपन पीड़ा के रूप में–वहीं आर्थिक, सामाजिक स्तर पर मानवमुक्ति के लिए चलने वाले उस ऐतिहासिक संघर्ष के साथ जुड़े होने का अहसास भी जगाते हैं जिसको अनदेखा अनचीन्हा छोड़ देना अपने आपको अप्रासंगिक बना लेना है।

(हिन्दी नवगीत : संदर्भ और सार्थकता, सम्पा0 डा0 वेदप्रकाश अमिताभ, डा0 रंजना शर्मा, पृ0–120)

11. नईम

नईम की गणना हिन्दी के महत्वपूर्ण नवगीतकारों में होती है। उनके नवगीतों पर मालवा के लोकजीवन और धरती की छाप है। अनुभूति और शिल्प दोनों दृष्टियों से नईम के गीत उत्कृष्ट हैं । उनके गीतों में भारतीय संस्कृति की झलक दिखाई देती है। 'पुरवइया क्वार की' गीत की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं जिनमें लोकजीवन का परिदृश्य प्रतिबिम्बित हो उठा है–

नीले जल झीलों में
बत्तखों सी तैर रही
पुरवइया क्वार की

नैहर के अल्हड़पन
पीहर शर्माए मन
रूठ–रूठ जाती है
बेला में हार की।

(नवगीत दशक–1, पृ0 19)

नईम के कुछ गीत आधुनिकता बोध से भी सम्पोषित हैं जिसमें उन्होंने सियासत की घिनौनी चालों का पर्दाफाश किया है।

12. रमेश रंजक

रमेश रंजक हिन्दी के श्रेष्ठ नवगीतकार हैं । इनके आठ गीत संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं – 1. गीत विहग उतरा 2. किरन के पाँव 3. हरापन नहीं टूटेगा 4. मिट्टी बोलती है 5. इतिहास दुबारा लिखो 6. रमेश रंजक के लोक गीत 7. गोलबन्दी 8. दरिया का पानी । रमेश रंजक के गीतों का संसार बहुआयामी है। इन्होंने जीवन के कोमल और कठोर दोनों क्षेत्रों को बड़ी गहराई से पकड़ा है। इनके लोकगीतों में ब्रजभाषा की मिठास भी देखने को मिलती है। रंजक जी ने अपने गीतों के माध्यम से अपनी वैचारिकता भी स्पष्ट की है। 'कलम का गीत' कविता की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं –

कलम बिकती नहीं है सिर्फ उसकी
जुड़ा है जो जमीं से, आदमी से
उसी ने चेतना को नोंक दी है
दुखी है जो समय की त्रासदी से
रगों में राग है तो जिन्दगी है।
कलम में आग है तो जिन्दगी है।

इनके अतिरिक्त गोपालदास नीरज, बालस्वरूप राही, रामावतार त्यागी, मधुर शास्त्री, चन्द्रसेन विराट, दिनकर सोनवलकर, महेन्द्र भटनागर, रमानाथ अवस्थी, शेरजंग गर्ग, मणिमधुकर, भारतभूषण, विकल साकेती, हरीश भादानी, कुँवर बेचैन, विद्यानन्दन राजीव, सोम ठाकुर, महेश उपाध्याय, रामनरेश पाठक, छविनाथ मिश्र, उमाशंकर तिवारी, कैलाश गौतम, अनूप अशेष, नचिकेता, अशोक शर्मा, रवि खण्डेलवाल, सुरेश कुमार, वेद प्रकाश अमिताभ, ओम प्रभाकर, कन्हैयालाल नन्दन, अश्वघोष, तारादत्त निर्विरोध, पुरुषोत्तम प्रतीक, शांति सुमन, हरि ठाकुर, रमाकान्त आजाद, हरि जोशी, मोती बी0ए0, निर्मल विनोद आदि ऐसे कई दर्जन नए – पुराने साहित्यकार हैं जिन्होंने नवगीतों का सृजन कर इस काव्यधारा को समृद्ध किया है।

19

'मुझे चाँद चाहिये' : उपन्यास विधा में एक नूतन प्रयोग

'मुझे चाँद चाहिए' सुरेन्द्र वर्मा का सर्वथा नूतन परिवेश और नूतन शिल्प पर आधारित अत्यन्त चर्चित उपन्यास है। इसमें सिलबिल उर्फ वर्षा वशिष्ठ के रूप में एक ऐसी मध्यमवर्गीय परिवार की नारी की जीवन गाथा है जो अत्यन्त जुझारू, महत्वाकांक्षी, साहसी और परम्परागत मूल्यों से विद्रोह करती हुई अपनी अलग पहचान बनाने की चेष्टा में प्रयत्नरत है। अपनी इयत्ता को सुरक्षित रखने में उसे नीति–नियमों को ताक पर रख देने में भी हिचक नहीं है। लेकिन यह स्त्री कहीं न कहीं दोहरा व्यक्तित्व जी रही है जो अत्याधुनिक बनने की आकांक्षा में परम्पराओं से कहीं दूर तक जुड़ी हुई है।

इस उपन्यास का ताना–बाना नाटक के कहीं अधिक निकट जा ठहरता है और औपन्यासिक कथा–सूत्र थोड़ा क्षीण हो उठता है। तीन खण्डों और विविध उपशीर्षकों से मण्डित यह उपन्यास तकनीकी दृष्टि से सर्वथा नूतन प्रयोग है और जहाँ वर्षा वशिष्ठ के साथ–साथ रंगमंचीय समस्याएँ खुद–ब–खुद उभार पाती हैं। वस्तुतः यह दो कथाओं को साथ लेकर चला है। लेखक का उद्देश्य जहाँ वर्षा के रूप में एक अभिनेत्री की छटपटाहट को अंकित करना है तो वहीं रंगमंचीय समस्याओं और रंगमंचीय तकनीक को उजागर करना भी उसका अभिप्रेत रहा है।

सिलबिल जो कि एक मध्यमवर्गीय परिवार की लड़की है, अपने जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन चाहती है। वह अपना नाम यशोदा शर्मा से बदलकर वर्षा वशिष्ठ रख लेती है। परिवार की क्षुद्र रूढ़िबद्धता और यांत्रिकता में वर्षा नष्ट ही हो जाती यदि उसे मिस दिव्या कत्याल न मिलतीं। वर्षा के संकरे–से संसार में मिस कत्याल नए क्षितिज खोलती हैं, उसे अभिनय करने की प्रेरणा और अवसर देती हैं और उसके जीवन के हर मोड़ पर मित्र, दार्शनिक और पथ–प्रदर्शक का काम करती हैं। परिवार के विद्रोह के बावजूद वर्षा दिल्ली के नेशनल स्कूल

ऑफ ड्रामा में प्रवेश ले लेती है। अभिनय की सीढ़ियाँ चढ़ती वर्षा को हर्ष मिलता है । दोनों के प्रेम के साथ–साथ वर्षा का अभिनय भी परवान चढ़ता है। वर्षा को अभिनय के अनेक पुरस्कार मिलते हैं। वर्षा का अगला पड़ाव मुम्बई है जहाँ उसकी फिल्मी यात्रा शुरू होती है। वर्षा अनेक फिल्मों में काम करती हुई एक सफल अभिनेत्री बनती है। उपन्यास के अंत में हर्ष की मृत्यु हो चुकी होती है और वर्षा की गोद में हर्ष का बच्चा होता है।

इस प्रकार उपन्यास की कथा में एक नारी के कोमल मन का, रंगमंचीय वातावरण एवं फिल्मी दुनिया का अत्यन्त सजीव चित्रण है। वर्षा के रूप में एक आम भारतीय नारी के चाँद पाने की चाह यानि कुछ कर गुजरने की चाह या फिर बहुत साधारण किन्तु विशिष्ट सा सुख संवेदात्मक सुरक्षा की चाह को उपन्यासकार ने जिस श्रेष्ठता के साथ चित्रित किया है वह अत्यन्त दुर्लभ है।

प्रस्तुत उपन्यास नायिका प्रधान है। वर्षा के रूप में सुरेन्द्र वर्मा ने नारी के उस वर्ग को चित्रित किया है जिसके अन्दर समाज, परिवार के विरोध के बावजूद कुछ कर गुजरने की चाह होती है। वर्षा के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह आधुनिक होते हुए भी पारम्परिक है। इस सम्बन्ध में रवीन्द्र त्रिपाठी ने लिखा है–

"वर्षा एक नई तरह की औरत है जिसे आधुनिक कहकर परिभाषित नहीं किया जा सकता। वह मध्यमवर्गीय पारम्परिक औरत से अलग है और साथ ही पारम्परिक भी। इस तरह उसमें विरुद्धों का सामंजस्य है।"

(हंस–जुलाई 1994–पृ084)

वर्षा के चरित्र की दूसरी विशेषता उसकी महत्वाकांक्षा है। यह वर्षा की महत्वाकांक्षा ही थी जो उसे परिवार के विरोध के बावजूद दिल्ली और फिर मुम्बई फिल्म इंडस्ट्री पहुँचाती है। उपन्यास का शीर्षक 'मुझे चाँद चाहिए' वर्षा की अति महत्वाकांक्षा का ही प्रतीक है। इसके अलावा वर्षा के चरित्र में अपूर्व साहस, कुशल अभिनेत्री एवं दृढ़ निश्चयी आदि गुण भी विद्यमान हैं।

वर्षा के बाद उपन्यास में दूसरा प्रमुख पात्र है–हर्षवर्द्धन। हर्ष एक कुलीन एवं संभ्रान्त परिवार में जन्मा अकेला बेटा है। पढ़ाई को छोड़कर वह अभिनय में प्रवेश करता है और सफल होता है। अभिनय की कलात्मक महत्वाकांक्षा उसे मुम्बई फिल्म इंडस्ट्री ले जाती है, जहाँ वह असफल साबित होता है और अपनी कुंठाओं व अहं के कारण आत्महत्या कर लेता है। हर्ष एक श्रेष्ठ अभिनेता है। उसके बारे में डॉ0 प्रभा खेतान ने लिखा है–

"मगर निकम्मा प्रेमी.... हीन भाव से ग्रसित प्रेमी हर्ष जो अपने संपूर्ण मॉड बैकग्राउंड के बावजूद,वर्षा की ऊँचाइयों को छू नहीं पाता। ऐसे कमजोर पौरुष का अंत होता है नशीली दवाओं के सेवन से । यानी जीवन की सात्विकता का विलयन प्रकृति की घोर तामसिकता में।.... अंत में ऐसा कमजोर आत्महंता मार्ग पर ढुलकता हुआ पुरुष, दयनीयता के चरम पर जाकर दम तोड़ देता है।"

(हंस–जून 1994–पृ0 65)

'मुझे चाँद चाहिए' में दिव्या कत्याल की भूमिका महत्वपूर्ण है। मिस कत्याल मिश्रीलाल डिग्री कालेज में अंग्रेजी की प्राध्यापिका के रूप में आती हैं। यहीं इन्हें वर्षा मिलती है। वर्षा के अन्दर की कलात्मक प्रतिभा को देखकर ये उसे अभिनय करने के लिए प्रेरित करती हैं। दो वर्ष बाद ये लखनऊ चली जाती हैं, जहाँ इनकी शादी हो जाती है। और इसके पश्चात् इन्हें एक बेटी होती है। गृहस्थ जीवन में लगे रहने के बावजूद ये वर्षा से संपर्क बनाये रखती हैं। उपन्यास के अंत में इन्हें श्वास नली का कैंसर हो जाता है। दिव्या कत्याल अनेक रूपों में वर्षा की सहायता करती हैं। एक यही हैं जिन्हें वर्षा अपनी हर बात बताती है। इस दृष्टि से ये इस उपन्यास की प्रमुख पात्र हैं।

'मुझे चाँद चाहिए' में संवाद तत्त्व का समुचित समावेश हुआ है। ये संवाद विचारों को स्पष्ट करते हैं, वातावरण का निर्माण करने वाले हैं और कथा का विकास करने वाले हैं। प्रस्तुत उपन्यास में कई स्थलों पर तार्किक शैली का प्रयोग हुआ है। लेकिन इस तार्किकता में कहीं भी शुष्कता नहीं आ पायी है। साथ ही इसमें जीवन की कटु घटनाओं की स्मृतिजन्य–वेदना भरी हुई है। अतएव ये तर्क–वितर्क लेखक

के नहीं, पात्रों के प्रतीत होते हैं। इससे ये संवाद विचारों को स्पष्ट तो करते ही हैं, साथ ही पात्रों की मनः स्थिति का परिचय देते हुए ये चरित्र–प्रकाशक भी हो गए हैं। उपन्यास के कथोपकथन रोचक और पैने भी हैं। संक्षिप्तता उनका प्रमुख गुण है। लगता है इसमें वर्षा की पीड़ा पुंजीभूत होकर आ विराजी है। अतः उसके संवाद बड़े ही प्रभावशाली, मार्मिक और हृदय पर चोट करने वाले हैं। साथ ही इन संवादों में नाटकीयत्व भी पूर्ण मात्रा में प्राप्त होता है।

आज का उपन्यास चूँकि यथार्थ की भाव–भूमि पर खड़ा है, अतः कथानक को स्वाभाविक बनाने के लिए उचित वातावरण आवश्यक होता है। प्रस्तुत उपन्यास में देशकाल और वातावरण का सटीक निर्वाह हुआ है। उपन्यास के प्रथम खण्ड में शाहजहाँपुर और लखनऊ, द्वितीय खण्ड में दिल्ली और तृतीय खण्ड में मुम्बई का वर्णन है। इन शहरों के वातावरण रहन–सहन, रीति–रिवाज, संस्कृति आदि का वर्णन उपन्यासकार ने बड़ी ही कुशलता के साथ किया है। उपन्यासकार सुरेन्द्र वर्मा मूलतः नाटककार हैं। रंगमंच से उनका गहरा जुड़ाव है। प्रस्तुत उपन्यास में उन्होंने रंगमंच और फिल्म जगत का भी वर्णन किया है।

'मुझे चाँद चाहिए' भाषा की दृष्टि से अद्भुत है। इसकी भाषा का स्तर बिल्कुल नवीन है। इस उपन्यास की भाषा के सम्बन्ध में डा0 निर्मला जैन ने लिखा है–

'मुझे चॉद चाहिए' एक सिद्ध नाटककार की सधी कलम से नाटकों के बाद उपन्यास विधा में भी एक महत्वपूर्ण देन है। जिसका भाषा–विधान भी स्वतंत्र विश्लेषण की अपेक्षा रखता है। एकदम खराद पर चढ़ाई, चिजल्ड भाषा जो विभिन्न औपन्यासिक स्थितियों में एक खास माहौल बनाती है। जो स्वयंसिद्ध नहीं है, जिसे साधा गया है। जिसमें नैरेटर चेखव, कालिदास, कामू को उनकी रचनाओं को साथ लिये–दिये हर क्षण उपस्थित है, अक्सर व्यंग्यकार के रूप में। बहुत बड़ी तैयारी से लिखा है सुरेन्द्र वर्मा ने इस उपन्यास को। एकदम 'फिनिश्ड प्रोडक्ट' की तरह।

(हंस–जुलाई 1994–पृ0 43)

वर्मा जी ने इस उपन्यास में मिश्रित भाषा का प्रयोग किया है।

इसमें अंग्रेजी, अरबी–फारसी, प्रादेशिक भाषा, उर्दू तथा बोलचाल की भाषा आदि का प्रयोग हुआ है। इन सभी के मिश्रित प्रयोग से ही यह उपन्यास भाषा की दृष्टि से एक श्रेष्ठ उपन्यास सिद्ध हुआ है। रवीन्द्र त्रिपाठी लिखते हैं–

"भाषा, 'मुझे चाँद चाहिए' का एक विशिष्ट पक्ष है। इसमें भाषा के कई स्तर हैं। एक तो यह उपन्यासों की वर्णनात्मक शैली से अलग है और रंगमंच के ज्यादा करीब है। स्थितियों की नाटकीयता संवादों के माध्यम से व्यक्त हुई है।दूसरे संस्कृत की क्लासिकल विशेषकर कालिदास की रचनाओं के प्रसंगवश उल्लेख के कारण उपन्यास की भाषा में तत्समता अधिक है। पर गालिब की गजलों के उल्लेख और उनके खूबसूरत इस्तेमाल से उर्दू की रवानगी है। तीसरे अंग्रेजी और पश्चिमी रचनाओं के प्रसंग आने से अनुवाद वाली हिन्दी भी सजधज के साथ है जिसके चलते कहीं–कहीं वाक्य–विन्यास कृत्रिम हो गया है। इस तरह हिंदी भाषा प्रयोग के कई स्तर और कई भंगिमाएँ इसमें हैं। यह भी एक कारण है कि यह उपन्यास विरुद्धों का सामंजस्य है।"

(हंस–जुलाई 1994–पृ0 85)

'मुझे चाँद चाहिए' उपन्यास में सर्वाधिक ध्यानाकर्षण की बात यह है कि इसमें सर्वथा नूतन तकनीक के दर्शन होते हैं। यही कारण है कि उपन्यास पढ़ते–पढ़ते पाठक को रंगमंचीय प्रेक्षक की सी अनुभूति होने लगती है।यों तो उपन्यास में वर्णनात्मक शैली ही प्रमुख है। उपन्यासकार एक नाटककार भी है इसलिए उपन्यास में नाटकीय शैली, फ्लैशबैक शैली, व्याख्यात्मक शैली, संवाद शैली, मनोविश्लेषणात्मक शैली, काव्यात्मक शैली तथा व्यंग्यात्मक शैली का प्रयोग बहुत ही सजीव है।

सुरेन्द्र वर्मा ने उपन्यासों की शिल्पगत प्राचीन परम्परा से हटते हुए 'मुझे चाँद चाहिए' में सर्वथा नूतन प्रयोग किया है। सर्वप्रथम तो उन्होंने उपन्यास को तीन खण्डों में विभक्त किया है, लेकिन इन खण्डों के बावजूद पूरा उपन्यास 46 उपशीर्षकों में विभक्त है। ये शीर्षक जहाँ एक ओर उपन्यास में उत्सुकता को बढ़ाते हैं वहीं दूसरी ओर औपन्यासिक दृष्टि से ये एक नवीन प्रतिमान हैं जो पाठक को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। ये सभी शीर्षक वर्णनीय कथ्य के अनुरूप और सटीक हैं।

सुरेन्द्र वर्मा का यह उपन्यास अपने प्रकाशन काल से ही चर्चा में रहा है। इसका प्रथम संस्करण 1993 में निकला।तब से प्रतिवर्ष इसके संस्करण निकल रहे हैं। यहाँ तक कि एक साल में दो–दो संस्करण। न सिर्फ उपन्यास का कथ्य आधुनिक है वरन् इसका शिल्प भी नवीन है। यदि यह कहा जाय कि यह हिन्दी उपन्यासों की परम्परा से बिल्कुल हटकर है तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी।संभवतः इसी कारण इसने हिन्दी पाठकों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया। हिन्दी उपन्यास विधा में वर्मा जी का यह उपन्यास एक नूतन प्रयोग है जो अत्यन्त सराहनीय है।

20

'इदन्नमम' : नारी संघर्ष की गाथा

आज जब समाज के हर क्षेत्र में बदलाव हो रहा है तो हिन्दी उपन्यास साहित्य ही पीछे क्यों रहता। पहले के उपन्यासों में नारी का चित्रण पारम्परिक रूप में किया जाता था, लेकिन आज नारी–चित्रण में भी बदलाव आया है । आज के उपन्यासों में नारी–पात्र की अभिव्यक्ति अपने अधिकारों के प्रति तीखी और मुखर हुई है। पहले नारी के अनुभव का दायरा सीमित था, लेकिन अब दुःख, संघर्ष, टकराव, सामाजिक रूढ़ियों का विरोध बढ़ा है। क्योंकि अब स्त्री अपनी परंपरागत अन्नपूर्णा वाली छवि से निकलकर एक कामकाजी, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक प्राणी के रूप में हमारे सामने आ रही है।

इधर कुछ दशकों से पुरुष द्वारा चित्रित शोषित,दलित स्त्री–पात्रों से विद्रोह करते हुए नारी लेखिकाओं ने एक जुझारू, संघर्षशील,संवेदनशील व्यक्तित्व के रूप में नारी का चित्रण किया है। उनके इस प्रयास ने उपन्यास विधा में एक नयी क्रांति को जन्म दिया है। हाल ही में ऐसे कई उपन्यास प्रकाशित हुए हैं। इनमें अलीगढ़ जिले के सिर्कुरा गाँव में जन्मी मैत्रेयी पुष्पा का उपन्यास 'इदन्नमम' सर्वाधिक चर्चा में है।इस उपन्यास के बारे में वीरेन्द्र यादव लिखते हैं–

"सामंती भाव–भूमि पर केन्द्रित पिछड़े कृषक समाज की मध्यजाति के जीवन को आधार बनाकर जो नारी विमर्श मैत्रेयी पुष्पा ने इस उपन्यास में प्रस्तुत किया है वह पिछड़े हुए भारतीय समाज की कई गुत्थियों एवं रूढ़ियों से टकराता है। निःसंदेह 'इदन्नमम' आंचलिक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत एक ऐसा नारी आख्यान है जो इसके पूर्व हिन्दी उपन्यास में उपलब्ध नहीं था।

(उत्तर प्रदेश–1997, पृष्ठ. 29)

किताबघर, नई दिल्ली द्वारा 1994 में प्रकाशित 368 पृष्ठों की यह पुस्तक महज एक आख्यान नहीं है, बल्कि नारी के संघर्ष की गाथा है। 'इदन्नमम' की पृष्ठ भूमि गाँव–देहात है।उपन्यास की नायिका

मंदाकिनी अपनी माँ प्रेमा के दूसरे पति के कारण अपनी दादी के साथ छुपती–छुपाती अपना बचपन बिता देती है। मंदा की बाल्यावस्था का प्रेमी मकरंद डाक्टरी पढ़ने इलाहाबाद जाता है और कभी नहीं लौटता। दोनों की सगाई होकर टूट जाती है, लेकिन मंदा अभी भी वह अंगूठी पहनती है क्योंकि उसे मकरंद के लौट आने की उम्मीद है। मंदा पाँचवी कक्षा से आगे नहीं पढ़ पाती, मगर उसे रामायण और गीता कंठस्थ हैं। उसके साथ उसकी बऊ और कुसुमा भाभी हैं। एक तरफ मकरंद चाह कर भी अपने माता–पिता का विरोध नहीं कर पाता और अपने अपराधबोध को पत्रों के जरिये प्रकट करता रहता है या फिर मंदा की चोटी का लाल फीता बक्से में छुपाकर रखता है। लेकिन शहर का आकर्षण मकरंद को पुनः गाँव से जोड़ नहीं पाता और वह उपन्यास के अंत तक नहीं लौटता। वहीं दूसरी ओर अस्पताल चलाने की अपनी महत्वाकांक्षा को ढोती मंदा, पुरुषवादी समाज से टकराती, लहूलुहान होती, एक नवीन दिशा की तलाश में दौड़ती हुई नितान्त अकेली औरत मंदा, अपने स्वर्गीय पिता के स्वप्न को पूरा करने के लिए निरन्तर संघर्षशील है।

प्रस्तुत उपन्यास में मंदा, उसकी माँ प्रेमा और बऊ (दादी) इन तीनों पीढ़ियों का चित्रण लेखिका ने बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है। उपन्यास की प्रमुख पात्र मंदा के व्यक्तित्व का चित्रण एक ऐसी संघर्षशील नारी पात्र के रूप में हुआ है, जो अनेक यातनाओं को सहते हुए भी शोषितों एवं दलितों की पीड़ा से एकात्म हो जाती है। मंदा घर और परिवार की देहरी लाँघकर समाज की उस धुरी पर खड़ी है जहाँ स्त्री–चेतना व दलित चेतना एकाकार होकर जनतंत्र से टकराने लगती हैं। मंदा के लिए मकरंद कभी नहीं लौटता लेकिन मंदा सहज है, संघर्ष कर रही है। अपने पिता के अस्पताल को, जिसे मंदा शुरू करवाना चाहती है, वह भ्रष्ट व्यवस्था के कारण नहीं शुरू हो पाता, लेकिन मंदा के व्यक्तित्व में दैन्य नही है। वास्तव में मंदाकिनी भ्रष्ट व्यवस्था को बदलने की क्रांतिकारी विचारधारा को लिए ग्रामीण समाज में खड़ी आज की नारी है।

मैत्रेयी पुष्पा ने मंदा के संघर्ष को चित्रित करने के साथ समाज में व्याप्त कुरीतियों, राजनीतिक दाँव–पेंच, भ्रष्ट व्यवस्था आदि अनेक

सवालों को भी बेबाक ढंग से उपन्यास में प्रस्तुत किया है। राजनीतिक दाँव–पेंचों के बारे में बऊ से कहा गया दादा का वक्तव्य देखें– ''राजकाज की भाखा समझना तुम्हारे–हमारे बस की नहीं है मातौन। काहे से कि जब तक हम एक बात समझ पायें ,तब तक तो हमारे नेता लोग चार पहेलियाँ और धर देते हैं हमारे सामने। वह भी ऐसे, जैसे कुनैन को शक्कर में लपेट दिया हो। सरकार और विपक्षी दलों का गोरखधंधा मछेरे के जाल–सा फैला है। कहाँ–कहाँ तक बचे आदमी।''

वे लोग, जीभ–जुबान से लोकसभा–विधानसभा में लड़ते हैं। स्याही–कलम से अखबारों में, और करम–आचरण से हम–औरों के बीच मचवाते हैं महाभारत । इन्हीं सबकी भरपाई कर रहे हैं हम लोग। कुपरिनाम भोग रहे हैं।''

वे एकालाप–सा करते हुए खोखली हँसी हँस दिये, ''लो यहाँ मार–काट मचवाकर सोग मनाते हैं दिल्ली–लखनऊ में। अँसुआ बहाते हैं लोक सभाओं में। हमारे विनास का ढोल पीटते हैं अखबारों में । कितने भाग्यी हैं हम। जाँच –कमीशन बैठ जाता है तुरन्त।''

(इदन्नमम–पृष्ठ–17)

शिक्षण संस्थाओं में व्याप्त राजनीति का भी उपन्यास में पर्दाफाश किया गया है। मेडिकल कॉलेजों की स्थिति पर प्रकाश डालता मंदा को लिखा गया मकरन्द का यह पत्र देखने योग्य है–

''मेहनत तो की थी मैंने, लेकिन डर लगता था, यहाँ चलती राजनीति से। प्रोफेसरों की औलाद राज करती है यहाँ। उन्हीं के बेटे बेटियों से खतरा रहता है। अंधेर मचा रखा है इन लोगों ने। श्रम पर गुणा–भाग का कब्जा !'' (इदन्नमम–पृष्ठ 245)

इसी प्रकार डोनेशन के बारे में मकरन्द मंदा को लिखता है– ''डोनेशन तुम नहीं जानती होगी। यहाँ शिक्षा और चिकित्सा की देह पर यह भारी कोढ़ की तरह फैला है। डोनेशन वह पैसा जो रात–दिन, सर्दी–गर्मी में कमाई गयी मेहनत के मुकाबले ज्यादा भारी बैठे। यह अमीरों की बैसाखी है। उनकी संतान इसी के बल चलकर योग्य और विद्वान होने की सनद पा लेती है।''

(इदन्नमम,पृष्ठ–221)

आरक्षण की समस्या को इस उपन्यास में नये ढंग से उठाया गया है। उपन्यास के एक पात्र भृगुदेव द्वारा मंदा को लिखे गए पत्र में आरक्षण के सम्बन्ध में कही गयी बात एक नयी सोच को जन्म देती है। देखिए–

"असल में हरिजनों को देखते ही कॉलिज में और कॉलिज के बाहर लोग एक धारणा कायम कर लेते हैं कि निश्चित ही यह छात्र आरक्षण से आया है। .... और फिर होती है अन्दरूनी बैर की शुरुआत, जिसमें उपेक्षा, ईर्ष्या, द्वेष और कुंठायें पनपने लगती हैं।

काश, वह दिन आये कि अनुसूचित जाति में आने वाले छात्र आगे बढ़ें और अस्वीकार कर दें आरक्षण की बैसाखी को। वह हौसला आये हमारे भीतर कि इस हेय भीख से मुक्ति पायें। अपंग ही न बनी रहे आने वाली पीढ़ियाँ। वोटों का व्यापार है यह। अपने मत के बदले में पाते हैं हम लड़खड़ाती हुई उपाधि,डिग्री, पद–प्रतिष्ठा।"

(इदन्नमम,–पृष्ठ–343)

ठेकेदार मजदूरों का किस तरह शोषण करते हैं, उपन्यास में इसका भी वर्णन किया गया है। राउतों (मजदूरों) की दयनीय स्थिति पर लेखिका ने प्रकाश डाला है । अवधा अपनी स्थिति मंदा को बताते हुए कहती है–

"पर, काहे की मजूरी जिज्जी! चोरी कहो, भड़ियायी। ठेकेदार हमसे भड़ियायी ही करवाते थे। ठेका तो लें पचीस पेड़ों का और कटावें हमसे पचास पेड़। जो पकरे जायँ तो हम जेहल में । जमानत करवाने तक न जावें ठेकेदार । जे और कह दें, हम नहीं जानते इन्हें, छिपके काट रहे होंगे।"

(इदन्नमम, पृष्ठ–236)

मजदूरों के शोषण को देख मंदा उनके दुखों से एकाकार हो जाती है और उन ठेकेदारों, क्रैशर मालिकों के विरोध में तनकर खड़ी हो जाती है।

भाषा की दृष्टि से इदन्नमम एक श्रेष्ठ उपन्यास है। मैत्रेयी पुष्पा जी ने बहुत ही सक्षमता, सूक्ष्मता से भाषाजाल बुना है जो अत्यन्त

पठनीय है और अपने में मौलिक है। सम्पूर्ण उपन्यास की भाषा बुन्देलखण्डी है।

'इदन्नमम' एक श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास है। विंध्य की पहाड़ियों से घिरे गाँव श्यामली और सोनपुरा के जन–जीवन का सम्पूर्ण उपन्यास में बड़ा ही सुन्दर वर्णन हुआ है। विंध्य और बुन्देलखण्ड के लोक–जीवन, वहाँ की बोली–बानी और रूप–रस–गंध को समेटे हुए यह उपन्यास आंचलिक उपन्यासों की श्रेणी में आता है। मैत्रेयी पुष्पा ने विंध्य के आस–पास के गाँवों का बड़ा ही सुन्दर और सजीव चित्रण किया है। साथ ही उन गाँवों के रीति–रिवाज, रहन–सहन, भाषा आदि का वर्णन भी श्रेष्ठ है। राजेन्द्र यादव के शब्दों में कहें तो इदन्नमम में–

''मिट्टी–पत्थर के ढोकों या उलझी डालियों और खुरदुरी छाल के आस–पास की सावधान छँटाई करके सजीव आकृतियाँ उकेर लेने की अद्भुत निगाह है....लगभग 'रेणु' की याद दिलाती हुई।''

इस प्रकार एक स्त्री की संवेदना, उसकी जुझारू प्रवृत्ति, उसके भावनात्मक लगाव और उसके संघर्ष पर लिखी गई 'इदन्नमम' की कहानी समकालीन हिन्दी उपन्यास जगत में एक सफल प्रयास है।

21

'देवरात' में युगबोध

देवरात उत्तर वैदिक कालीन कथानक पर आधारित डा0 विष्णु दत्त राकेश का आधुनिक बोध सम्पन्न प्रबंध काव्य है। इसका कथानायक शुनःशेप या देवरात है जो अजीगर्त का पुत्र है। अजीगर्त एक निर्धन ब्राह्मण है जो सामंती व्यवस्था के दुश्चक्रों के कारण होने वाले जनपीड़न एवं शोषण का शिकार है। वह भूख से इतना विवश है कि अपने मँझले पुत्र शुनःशेप को यज्ञ में बलि के लिए पशुतुल्य बेच देता है। यह उसके जीवन की भयंकर त्रासदी है। इस कथा के माध्यम से रचनाकार ने सामंती जीवन की विसंगतियों का चित्रण करते हुए नरबलि एवं दास प्रथा पर प्रहार किया है।

वस्तुतः उत्तर वैदिक युग में सामंतवाद अपनी सम्पूर्ण विसंगतियों एवं विडंबनाओं के साथ प्रकट हो चुका था। नरबलि एवं क्रीतदास जैसी अनार्य प्रथाओं ने जन्म ले लिया था। अंध विश्वासों तथा यज्ञानुष्ठानों के प्रति लोगों की आस्था बढ़ती जा रही थी। ऊँच–नीच एवं धनी–निर्धन का भेद बढ़ता जा रहा था। बेगार प्रथा, जनपीड़न और शोषण का दुश्चक्र चल पड़ा था। दुराग्रही पौरोहित्यवाद अपना सिर उठा रहा था। शासन की गलत नीतियों के कारण शासक और शासित के बीच दूरी बढ़ती जा रही थी। ऐसे में कभी--कभी विद्रोह का स्वर भी फूट उठता था जिसे निर्दयता पूर्वक दबा दिया जाता था।

कथानायक शुनःशेप का पिता अजीगर्त एक ऐसा ही चरित्र है, प्रबंध काव्य में जिसका विद्रोही स्वरूप उभरकर सामने आता है। जब उसे पता चलता है कि राजा के कर्मचारी नरमेध यज्ञ में राजा के पुत्र के बदले में बलि देने के लिए एक मनुष्य क्रय करना चाहते हैं तो वह चुप नहीं रहता और इस सामंती कुचक्र के विरुद्ध आवाज उठाता है। वह कहता है कि राजा को अपना पुत्र तो प्राणों से अधिक प्रिय है, पर क्या दूसरों के पुत्र निरीह पशु के समान हैं?

तब विप्र अकिंचन अजीगर्त,
बोला यह सामंती कुचक्र,
अपना सुत प्राणों से महान,

दूजा निरीह पशु के समान।।

(देवरात,पृ0–55)

अजीगर्त की दृष्टि में नरमेध यज्ञ अमानवीय प्रथा है और वैदिक विधान के विरुद्ध है। फिर भला राजा आदिम युग की इस जड़ परम्परा को क्यों पाल रहे हैं–

बर्बरता है नरमेध यजन,
वैदिक विधान का घोर हनन।।
आदिम युग की जड़ परम्परा,
रखाते किरात जन हरा–भरा,
नृप आर्य कुलोद्भव निष्कलंक,
क्यों पाल रहे यह प्रथा बंक।।

(देवरात, पृ0–55)

मनुष्य का शरीर बड़ा दुर्लभ है। उसे इस प्रकार नष्ट कर देना विधाता का अपमान है–

यह दुर्लभ नर तन नहीं व्यर्थ,
कर देना होम इसे अनर्थ,
अपमान विधाता का नृशंस,
मानव स्वतंत्राता हेतु दंश।।

(देवरात, पृ0–56)

अजीगर्त के जीवन की विडम्बना यह है कि वह ब्राह्मण होते हुए भी राजा का चाटुकार बनकर अर्थलाभ नहीं प्राप्त करता! वह स्वाभिमान पूर्वक जीना चाहता है, पर सामंती व्यवस्था उसे नहीं छोड़ती। वह शोषण का शिकार होकर निर्धनता का जीवन जीने के लिए विवश हो जाता है। अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए वह कहता है–

पूजांजलि को तंदुल न मिले,
बच्चे आटा पी सदा पले,
पत्नी के सपने नहीं खिले,
वंध्या इच्छा के मान ढले।।

(देवरात, पृ0–57)

उसकी यह दीन दशा इसलिए है, क्योंकि वह ब्राह्मणत्व की रक्षा का प्रण लेता है। वह अनार्यों की तरह विद्रोह भी नहीं कर सकता, क्योंकि उस पर श्रुतियों–स्मृतियों का अंकुश है। वह दिन–रात भूख की पीड़ा झेलने के लिए विवश है। उसका स्पष्ट मत है कि जब तक यह जन्मना व्यवस्था रहेगी तब तक उसे ऐसी ही पीड़ा झेलनी होगी। अतः इस रूढ़ व्यवस्था का विरोध करना वह अपना धर्म समझता है। वह कहता है–

जन्मना व्यवस्था के रहते,
बीतेगा जीवन दुःख सहते,
इस रूढ़ व्यवस्था का विरोध
करना है मेरा धर्म बोध।।

(देवरात–पृ0–58)

उसकी दृष्टि में द्विज और अन्त्यज दोनों समान हैं,दोनों दरिद्र हैं अतः इनका आरक्षण होना चाहिए। सत्ता के हित में भी यही उचित होगा–

दोनों दरिद्र अभिशप्त रूप
दोनों धरती के अंध कूप
दोनों का जीवन निष्कलंक
दोनों का ही जीवन सशंक।।
दोनों दरिद्र हों आरक्षित
सत्ता के हित में यह वांछित,

(देवरात, पृ0–58)

भूख मनुष्य के जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है। भूख के कारण ही पिता अपना पुत्र बेच देता है, स्त्री अपनी लज्जा बेच देती है। भूख के कारण श्रद्धा बिक जाती है, निष्ठाएँ बिक जाती हैं। प्रतिभाशाली लोग बिक जाते हैं। भूख ही सब अपराधों की जड़ है। भूख के कारण मनुष्य गद्दार बन जाता है। भूख के कारण सामाजिक जीवन छिन्न–भिन्न हो जाता है।

भूख जीवन का वह कुठार है जो समाज को तार–तार कर देता है–

है भूख जिन्दगी का कुठार,
करता समाज को तार–तार।।

(देवरात, पृ0–60)

अजीगर्त इसी भूख का सताया हुआ है। वह अपने पुत्र को इसी भूख की पीड़ा को शांत करने के लिए बेचता है। वह चाहता है कि उसका बेटा अपना बलिदान देकर नरबलि जैसी क्रूर प्रथा का अंत करे–

देकर वह निज बलिदान हंत,
इस क्रूर प्रथा का करे अंत।।

(देवरात, पृ0 59)

अजीगर्त इस काव्य में अपने वर्ग का प्रतिनिधि बनकर सामने आता है। उसकी पीड़ा उस पूरे वर्ग की पीड़ा है जो सामंती दुश्चक्र के कारण शोषण और उत्पीड़न का शिकार है। जो मनुष्य होते हुए भी पशु जैसा जीवन जीने को विवश है। रचनाकार ने इस चरित्र के माध्यम से उत्तर वैदिक कालीन शासन व्यवस्था की कमजोरियों एवं सामाजिक जीवन की विसंगतियों का पर्दाफाश किया है।

खंड काव्य का कथानायक शुनःशेप युवा वर्ग के प्रतिनिधि के रूप में सामने आता है। वह अद्‌भुत प्रतिभाशाली तथा सुन्दर है। विश्वामित्र के कहने पर वह धारा प्रवाह सद्यः स्फुरित वरुण सूक्तों का प्रवाचन करने लगता है। रज्जु से बँधा हुआ वध के लिए प्रस्तुत शुनः शेप पशु की भाँति मूक नहीं रहता, बल्कि इस क्रूर प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाता है। उसकी करुण पुकार सुनकर सभा में उपस्थित सभी नर नारियों के हृदय द्रवित हो जाते हैं। वह महाराज हरिश्चन्द्र को सम्बोधित कर कहता है कि– राजन! यदि हम सभी अमृत पुत्र हैं तो मुझमें और आप में इतना भेद क्यों है? राजपुत्र के प्राण बचाने के लिए एक निर्धन ही अपने प्राण क्यों गंवाये? सच ही है, ऊँच–नीच का यह विषधर हमेशा से समाज को डसता रहा है। उच्च वंश का मिथ्या अभिमान लोगों को एक नहीं होने देता–

डसता रहा सदा समाज को
ऊँच–नीच का विषधर सर्प

नहीं एक होने देता है
उच्च वंश का मिथ्या दर्प।

(देवरात, पृ0 73)

यहाँ तो राजा का पुत्र ही राजा होता है, चाहे वह अयोग्य ही क्यों न हो। दलित का पुत्र दलित ही रहता है। यह कैसी घृणित व्यवस्था है?–

शासक का सुत, मणि किरीट की,
दलित पुत्र होगा पद त्राण।
है कैसी यह घृणित व्यवस्था,
है कैसा यह कुटिल विधान?।

(देवरात, पृ0 73)

शासक और शासित के इस भेद ने समाज का बड़ा अहित किया है। शासन की मूलनीति है, फूट डालो और राज करो–

शासन की तो मूलनीति है
शासित जन को करो विभाज्य।।

(देवरात पृ0 75)

सत्ता का अभिषेक हमेशा दमन और आतंक से ही होता रहा है। शासक स्फटिक के महलों में सोते हैं, जबकि शासित खुले आसमान के नीचे–

शासक स्फटिक सौंध में सोते,
करते नभयानों में वास।
शासित के नीचे धरती है,
ऊपर खुला हुआ आकाश।।

(देवरात, पृ0 75)

शोषितों की व्यथा का कोई अंत नहीं है। वे अपने दुखों को नियति दोष मानकर मौन हो सहते रहते हैं। उनके कष्टों को सुनने वाला कोई नहीं है–

मूक अजा सम नियति दोष कह,
सहते पीर अधोमुख मौन।
वे कब अधर खोल पाते हैं,
सुनता है उनका दुख कौन?।।

(देवरात, पृ0 76)

शुनः शेप की आवाज इसी वर्ग की आवाज है। उसकी पीड़ा इसी वर्ग की पीड़ा है। उसका आक्रोश इसी वर्ग का आक्रोश है। रचनाकार ने इस चरित्र के माध्यम से सम्पूर्ण मानव मुक्ति की आकांक्षा व्यक्त की है। उन्हीं के शब्दों में–

'मैंने देवरात के व्याज से नरबलि, दास प्रथा, सामन्ती अनुदारता, बेगार प्रथा, जनपीड़न और शोषण के साथ दुराग्रही पौरोहित्यवाद की समस्याओं को उठाकर सम्पूर्ण मानव मुक्ति की आकांक्षा को व्यक्त करने की चेष्टा की है।'

(देवरात–प्रस्तावना)

शुनः शेप की करुणाभरी गुहार विश्वामित्र का भी हृदय विचलित कर देती है। वे भी उसका समर्थन करते हुए इस पुरातन जड़ व्यवस्था का विरोध करते हैं। उन्हीं के शब्दों में–

पुरातन जड़ व्यवस्था पाप ही है,
प्रगति हित वह मनुज के शाप ही है,
मिटा देना उसे है धर्म नर का,

(देवरात, पृ0–83)

विश्वामित्र भी ऊँच–नीच, धनी–निर्धन, पावन–अपावन तथा स्वामी–सेवक के आधार पर मनुष्य के विभाजन को गलत मानते हैं। उनकी दृष्टि में ये सब स्वार्थ के षड्यंत्र हैं। वे शुनःशेप को ललकारते हुए कहते हैं कि हे पुत्र, उठो और सम्पूर्ण मानव की मुक्ति के लिए क्रांति का नवगीत गाओ। मनुष्य इस संसार में परमात्मा की सर्वोत्कृष्ट रचना है। वह अनागत का भव्य स्वप्न है। अतः उसकी सिद्धि के लिए तुम आगे बढ़ो–

उठो सुत क्रांति के नवगीत गाओ,
मनुज की मुक्ति की तुरही बजाओ।
मनुज में प्रेम की सद्‌वृत्ति जागे,
अपीड़क कर न सुख की भीख माँगे,
मनुज है विश्व की उत्कृष्ट रचना
अनागत का वही है भव्य सपना,
उसी की सिद्धि के दीपक जलाओ,
उसी के भाल पर चंदन लगाओ।।

(देवरात, पृ0–84)

शुनः शेप का समर्पण राजा हरिश्चन्द्र का हृदय परिवर्तन कर देता है। वे भी सोचने के लिए विवश हो जाते हैं–

मिलेगा क्या सचमुच दिन एक
दलित जन को सामाजिक न्याय?
सहेंगे शोषित ताड़ित मूक,
धरा पर कभी नहीं अन्याय।।
न होंगे उनके मुखड़े म्लान
न होगा उनका हृदय उदास।
प्रशासन में हो भागीदार,
करेंगे अपना उचित विकास।।

(देवरात, पृ0–92)

देवरात के रचनाकार डा0 विष्णु दत्त राकेश ने इस कथा के माध्यम से उस युग की गहराइयों में पहुँचने की कोशिश की है। उन्होंने इस कथा के माध्यम से उस युग का जो चित्र उपस्थित किया है, वह जीवंत है।

आज हम वर्ण, धर्म, जाति, भाषा, प्रांत आदि के नाम पर विभक्त हो रहे हैं। राजनीति का स्वरूप बदलता जा रहा है। पश्चिम की चकाचौंध में अपनी परम्परा को भूलते जा रहे हैं। ऐसे में 'देवरात' जैसी रचनाओं की प्रासंगिकता और भी अधिक बढ़ जाती है।

22

'नभग'

: आधुनिक बोध सम्पन्न खंड काव्य

'नभग' 1998 में प्रकाशित ख्यातिलब्ध हिन्दी कवि एवं समीक्षक डा0 विष्णु दत्त राकेश का चर्चित आधुनिक बोध सम्पन्न खंड काव्य है। मनु पुत्र नभग इसकी कथा के नायक हैं। उन्हीं के नाम पर इस खंड काव्य का नाम 'नभग' रखा गया है। वैवस्वत मनु और श्रद्धा के दस पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें नभग छोटे किन्तु मेधावी थे। बचपन में ही वे विद्याध्ययन के लिए गुरु वशिष्ठ के आश्रम में चले गए। विद्या के लिए पूर्ण समर्पित नभग के मन में ब्राह्मणत्व अंगीकार करने की इच्छा उत्पन्न हुई। शिक्षा पूर्ण होने पर समावर्तन संस्कार के समय गुरु ने इनकी रुचि देखकर इन्हें ब्राह्मणत्व प्रदान किया। नभग शिक्षा में मूलभूत परिवर्तन करना चाहते थे। इस निमित्त उन्होंने हिमालय की उपत्यका में दो नदियों के संगम पर एक नवीन गुरुकुल की स्थापना की।

नभग राजपुत्र थे। अपने राज्य भाग को लेकर वह गुरुकुल को दान देना चाहते थे। इससे गुरुकुल का आर्थिक आधार और सुदृढ़ हो जाता। इस हेतु वे अपने भाइयों के पास जाते हैं, पर भ्रातागण उनका तिरस्कार करते हैं। इससे नभग को बड़ी मानसिक पीड़ा होती है। नभग के वानप्रस्थी माता–पिता उन्हें अंतःकरण की शुद्धि तथा काव्य साधना करने का परामर्श देते हैं।

माता–पिता की प्रेरणा से नभग आंगिरस गोत्री कवियों के सारस्वत यज्ञ में जाकर अपनी काव्य प्रतिभा का परिचय देते हैं। बदले में उन्हें पुष्कल धनराशि प्राप्त होती है।

मार्ग में रुद्रदेव प्रकट होकर उस राशि पर अपना अधिकार जताते हैं। जबकि नभग उस धन को अपना बताते हैं। रुद्रदेव इस विवाद की मध्यस्थता के लिए मनु का नाम प्रस्तावित करते हैं। नभग अपने पिता मनु के पास जाकर इसका निर्णय माँगते हैं। सत्य निष्ठ मनु रुद्रदेव के पक्ष में अपना निर्णय देते हैं। पिता –पुत्र की सत्य वादिता से प्रसन्न होकर रुद्रदेव वह सारा धन नभग को प्रदान करते हैं। इससे गुरुकुल

का आर्थिक आधार मजबूत होता है। अब नभग संन्यास लेना चाहते हैं। ऐसे में उनके उत्तराधिकारी का प्रश्न उठ खड़ा होता है। नभग एक योग्य द्विजेतर स्नातक शिष्य को गुरुकुल का आचार्य घोषित करते हैं। कट्टरतावादी द्विज इसका विरोध करते हैं, लेकिन अंत में नभग के दृढ़ निश्चय के सामने सिर झुका देते हैं।

इसी अवसर पर नभग के भाई धृष्ट का वहाँ आगमन होता है। वे नभग के विचारों का समर्थन करते हुए शेष जीवन एक ब्राह्मण के रूप में गुरुकुल में ही बिताने की प्रार्थना करते हैं। धृष्ट को कर्मणा ब्राह्मणत्व मिलता है। धृष्ट ही उस द्विजेतर स्नातक को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करने के लिए तिलक करते हैं। नभग उस द्विजेतर शिष्य को अपना पुत्र घोषित कर नाभाग नाम देते हैं। इस तरह गुरूकुल के प्रति अपने कर्त्तव्य को पूर्ण कर नभग तपस्या हेतु हिमालय के उच्च शिखरों की ओर प्रस्थान करते हैं। खण्ड काव्य की कथा यहीं समाप्त हो जाती है।

रचनाकार ने इस कथा के माध्यम से कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं को उठाने का प्रयास किया है। प्रथम विचार बिन्दु यह है कि वर्ण व्यवस्था जन्मना नहीं, गुण–कर्मणा होनी चाहिए। प्राचीन काल में आचार्य शिक्षापूर्ण होने पर समावर्तन संस्कार के समय ही विद्यार्थी के गुण–कर्म को परख कर उसकी शारीरिक, बौद्धिक क्षमता के अनुरूप वर्ण विभाजन किया करते थे। इस तरह यह प्राचीन ऋषियों की एक उत्तम व्यवस्था थी। इससे समाज का चहुँमुखी विकास होता था। पर बाद में इस व्यवस्था को जन्मना कर दिया गया। कथानायक नभग इस व्यवस्था को तोड़ते हैं। क्षत्रिय होते हुए भी वे ब्राह्मणत्व स्वीकार करते हैं। पठन–पाठन में उनकी रुचि देखकर वशिष्ठ उन्हें ब्राह्मणत्व प्रदान करते हैं। इस तरह गुरु से श्रेष्ठ द्विजत्व पाकर नभग राजन्य भाव एवं अधिकार तृषा से मुक्त हो जाते हैं–

वहीं समावर्तन वेदी पर
गुरु से पाकर श्रेष्ठ द्विजत्व।
त्याग दिया राजन्य भाव को,
हो अधिकार तृषा से मुक्त।।

(प्रथम सर्ग, छंद सं0–29)

गुरुकुल के आचार्य के रूप में नभग शिक्षा व्यवस्था में आमूल–चूल परिवर्तन करना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में शिक्षा मानव मुक्ति का अनुपम द्वार है। यह हमारे अज्ञान तिमिर का नाश करती है। इसीलिए बिना किसी भेदभाव के सबको शिक्षा का अधिकार मिलना चाहिए–

सबके लिए सुलभ हो शिक्षा,
सबको मिले वेद का ज्ञान।
वर्ण–भेद के बिना सभी जन,
पढ़ें वेद–वेदांग समान।।

(प्रथम सर्ग, छंद सं0–33)

शिक्षा का अधिकार लिंग, जाति, धर्म, रंग, भाषा, देशकाल तथा छोटे–बड़े के भेद से रहित मनुष्य मात्र को मिलना चाहिए, यही इस काव्य का दूसरा प्रमुख विचार बिन्दु है।

नभग द्वारा स्थापित गुरुकुल ऐसा ही है, जिसमें बिना किसी भेदभाव के सबको शिक्षा का समान अवसर मिलता है। सब एकता के सूत्र में बँधे रहते हैं। सबका एक सा भोजन और समान परिधान है। इस तरह ही राष्ट्र भक्तों की पीढ़ी का निर्माण हुआ करता है। नभग के चरित्र में हमें कहीं–कहीं गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक स्वामी श्रद्धानंद समाहित दिखाई देते हैं। स्वयं रचनाकार ने भी इस ओर संकेत कर दिया है। उनके ही शब्दों में "इस काव्य के पाठकों को यदि नभग के व्यक्तित्व में स्वामी श्रद्धानंद प्रतिबिम्बित होते दिखाई दें तो उन्हें आश्चर्य नहीं करना चाहिए। श्रद्धा के पुत्र नभग वास्तव में श्रद्धानंद ही थे।" (भूमिका से)

'नभग' का तीसरा महत्वपूर्ण बिन्दु यह है कि शिक्षा को राजकीय प्रभाव से मुक्त रखा जाना चाहिए। अनुदानों पर आश्रित रहने से शिक्षा का विकास अवरुद्ध हो जाता है। इसलिए शिक्षा को राजतंत्र से स्वतंत्र होना चाहिए। कथानायक नभग के शिक्षा के सम्बन्ध में यही विचार हैं–

शिक्षा की स्वायत्त महत्ता
है समाज का गुरु दायित्व।

अनुदानों से रुँध जाता है,
शिक्षा का उन्मुक्त भविष्य।।

(द्वितीय सर्ग, छंद सं0–21)

किसी एक सत्ता या राजनीतिक दल के साथ जुड़ जाने से शिक्षा के स्वच्छन्द विचार बाधित होते हैं–

किसी एक सत्ता या दल के
प्रति जो होती है प्रतिबद्ध।
वह शिक्षा स्वच्छन्द विचारों
को करती है सदा निरुद्ध।।

(द्वितीय सर्ग, छंद सं0–22)

अतः, नभग के शब्दों में–

शिक्षा को स्वतंत्र रखकर ही,
हो सकता है युग निर्माण।
शिक्षा नहीं लाभ की पूँजी,
शिक्षा का सम्बल है दान।।

(द्वितीय सर्ग, छंद सं0–23)

इसी प्रसंग में रचनाकार ने कुछ और महत्वपूर्ण बिन्दुओं की ओर संकेत किया है। उनका मानना है कि शिक्षा व्यवसाय नहीं है। शिक्षा हमारे चरित्र का निर्माण करती है। इससे हमारी रचनात्मक क्षमता का विकास होता है। शिक्षा अपनी भाषा यानि मातृभाषा में होनी चाहिए। शिक्षा और मातृभाषा का अटूट सम्बन्ध है–

शिक्षा और स्वभाषा का है,
एक अटूट अचल सम्बंध।
बिना मातृभाषा के गूंगा,
होता है समाज जन अंध।।

(द्वितीय सर्ग, छंद सं0–44)

नभग में नारी के समान अधिकार की बात को भी जोरदार ढंग से उठाया गया है। विदुषी घोषा को जब काव्य सभा का अध्यक्ष बनाया

जाता है तो कुछ ऋषिगण इसका विरोध करते हैं। तब वरुण अंगिरा इस विरोध का उत्तर देकर इन ऋषियों को मौन कर देते हैं। वरुण अंगिरा कहते हैं–

नारी में नर है विद्यमान,
नर में नारी की सत्ता है।
दोनों की समता सिद्धि बिना
हिलता न सृष्टि का पत्ता है।

(चतुर्थ सर्ग, छंद सं0–26)

आगे कई छंदों में नारी की यशोगाथा का वर्णन है।

रचनाकार की मान्यता है कि युग के अनुरूप पुराने नियमों में संशोधन, परिवर्धन होना चाहिए। परम्परा का मोह कभी–कभी प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध कर देता है। व्यक्ति को नदी की धारा की तरह समय के साथ चलना चाहिए, तभी वह अपनी उन्नति कर सकेगा। साथ ही तभी समाज की भी उन्नति होगी।

इन कुछ महत्वपूर्ण बिन्दुओं को उठाकर नभग को आधुनिक बोध सम्पन्न बनाने का सुंदर प्रयास किया गया है। इस रचना की प्रशंसा करते हुए प्रसिद्ध कवि डा० शिवमंगल सिंह सुमन ने लिखा है– ''पौराणिक और वैदिक कथा को वर्तमान संदर्भों से जोड़ने का यह अद्‌भुत प्रयास है।''

(अमर उजाला, मेरठ, 18 अप्रैल 1999)

रचनाकार ने नभग के रूप में ऐसे पात्र का सृजन किया है जो वैदिक–पैराणिक होते हुए भी अत्याधुनिक है। उसकी विचारधारा, उसकी पीड़ा आज के किसी भी जननायक की विचारधारा और पीड़ा हो सकती है। यही इस रचना की उपलब्धि है।

नभग में शिल्पगत नवीनता के भी दर्शन होते हैं। इसमें लक्षणा, व्यंजना और प्रतीकों के नए प्रयोग देखने को मिलते हैं। अलंकारों के संयोजन में भी नवीनता है। भाषा पक्ष तो समृद्ध है ही।

कुल मिलाकर रचना पठनीय और प्रशंसनीय है।

23

हिन्दी लघुकथा : सृजन और संघर्ष

लघुकथा हिन्दी गद्य की नव्यतम विधा है। हालांकि इसने अपने विकास के लगभग सौ वर्ष पूरे कर लिए हैं, पर सौ वर्षों का यह इतिहास इसके निर्माण और संघर्ष का इतिहास है। इस दौरान हिन्दी लघुकथा ने अनेक चढ़ाव–उतार देखे। आकार–प्रकार के साथ इसके कथ्य और शिल्प में भी अनेक परिवर्तन हुए। समीक्षकों के एक वर्ग का विरोध भी इसे झेलना पड़ा। आज भी कुछ विद्वान इसे स्वतंत्र विधा मानने के पक्ष में नहीं हैं। पर अब हिन्दी लघुकथा की अपनी अलग पहचान बन चुकी है। एक ओर जहां लघु कथाओं का व्यापक सृजन हुआ है, वहीं समीक्षात्मक रूप से भी इस पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है। अनेक विश्वविद्यालयों में इस पर शोध कार्य भी हुए हैं।

लघुकथा के साथ–साथ अन्य कथा रूपों का विकास हुआ है, जैसे–बोध कथा, व्यंग्य कथा, चुटकला आदि। कई बार विद्वान इनको एक मान लेते हैं। पर इनमें आपस में बड़ा अंतर है। लघुकथा में सामाजिक विसंगतियों एवं जीवन की जटिलताओं का चित्रण होता है जबकि बोध कथा में प्रेरणा और उपदेश की प्रधानता होती है। व्यंग्य लघुकथा का एक महत्वपूर्ण गुण है। व्यंग्य का प्रयोग लघुकथा को चुटीला और धारदार बनाने के लिए किया जाता है। चुटकले का लक्ष्य है पाठक को हंसाना। चुटकला मनोरंजन प्रधान होता है जबकि लघु कथा चिंतन प्रधान।

लघुकथा की विशेषता यह है कि वह थोड़े शब्दों में बहुत कुछ कह देती है। बिहारी के दोहों की तरह इसमें 'गागर में सागर' भरा होता है। 'नावक के तीर' की तरह इसकी चोट गंभीर होती है।

अनेक विद्वानों ने लघुकथा की परिभाषा दी है। डा० सतीश राज पुष्करणा के अनुसार "समाज में व्याप्त विसंगतियों में किसी विसंगति को लेकर सांकेतिक शैली में चलने वाला सारगर्भित, प्रभावशाली एवं सशक्त कथ्य जब किसी झकझोर/छटपटा देने वाली लघु आकारीय

गद्य रचना का आकार धारण कर लेता है, तो लघु कथा कहलाता है।''

(लघुकथा:बहस के चौराहे पर, पृ0–7)

डा० राम निवास 'मानव' के अनुसार– ''वह गद्य रचना, जिसमें किसी सूक्ष्म मनःस्थिति या भाव स्थिति को एक लघु घटना द्वारा कथात्मक संस्पर्श देकर उकेरा गया हो, लघुकथा कहलाती है।''

(ताकि सनद रहे, पृ0–6)

डा० माहेश्वर के शब्दों में– ''दरअसल कम से कम शब्दों में, काफी पुरअसर ढंग से जिंदगी का एक तीखा सच कथा में ढाल दिया जाए तो वह लघुकथा कहलाएगी।''

(लघुकथा:बहस के चौराहे पर, सम्पा0 सतीश राज पुष्करणा, पृ0–2)

शकुन्तला किरण के शब्दों में–''लघुकथा है लघु आकारीय, गद्य कथात्मक रूप में जीवन के किसी ज्वलंत क्षण/सूक्ष्म सत्य की तरह वह अभिव्यक्ति जो अपने प्रखर ताप/तीखेपन से पाठकीय चेतना को झकझोर दे, उन्हें कोई गंभीर चिंतन बीज दे सके।''

(लघुकथा:बहस के चौराहे पर, सम्पा0 सतीश राज पुष्करणा, पृ0–2)

लघुकथा के प्रमुख तत्व हैं– कथानक, पात्र, शैली और उद्देश्य। देशकाल तथा वातावरण आदि इसमें संकेत रूप में आते हैं। कुछ विद्वान व्यंग्य को भी लघुकथा का महत्वपूर्ण तत्व मानते हैं। पर व्यंग्य लघुकथा की शैली है, इसका महत्वपूर्ण गुण है। व्यंग्य के बिना भी लघुकथाओं की रचना हो सकती है।

लघुकथा में कथानक अत्यंत संक्षिप्त होता है। कथानक जितना संक्षिप्त होगा, लघुकथा उतनी ही प्रभावशाली होगी।

वास्तव में लघुकथाकार का उद्देश्य जीवन की किसी विसंगति अथवा विद्रूपता का चित्रण करना होता है, इसलिए वह घटना के चरम बिन्दु को ही पकड़ता है। ऐसे में कथानक के विस्तार की कोई गुंजाइश नहीं रह पाती। लघुकथा में पात्रों का होना भी आवश्यक है। पर इनकी संख्या बहुत कम होती है। ये पात्र हमारे दैनिक जीवन के आस–पास के ही होते हैं। पात्रों का चयन कथानक के अनुरूप होता है। लघुकथा के पात्रों के विषय में डा० राम निवास 'मानव' का

अभिमत है कि–"पात्र मूर्त या अमूर्त, सजीव या निर्जीव कैसे भी होते हैं पर एक सक्रिय रचनाधर्मिता तथा जीवंत भाव–बोध की अभिव्यक्ति उनके क्रियाकलापों द्वारा होनी आवश्यक है।"

(शब्द साक्षी, पृ0–14)

शैली लघुकथा का महत्वपूर्ण तत्व है। लघु कथाकार कथानक को ध्यान में रखकर विभिन्न शैलियों का प्रयोग करता है। पर एक लघुकथा में प्रायः एक ही प्रकार की शैली का प्रयोग होता है। अन्य साहित्य विधाओं की तरह लघुकथा की रचना भी सोद्देश्य होती है। आज की लघुकथा किसी समस्या का समाधान प्रस्तुत नहीं करती बल्कि वह जीवन की सच्चाइयों से हमारा साक्षात्कार करवाती है। हमें कुछ सोचने पर विवश करती है। लघुकथा में भाषा पक्ष का प्रबल होना आवश्यक है। इसमें एक–एक शब्द का अपना विशेष महत्व होता है। लघुकथा की भाषा अति सुगठित,परिमार्जित, सजीव एवं प्रभावोत्पादक होनी चाहिए। कहीं–कहीं आंचलिक शब्दों एवं मुहावरों के प्रयोग से लघुकथा के सौन्दर्य में चार चांद लग जाते हैं।

आज हम लघुकथा के जिस रूप की चर्चा करते हैं उसके जन्म की कहानी स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् शुरू होती है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व हिन्दी लघुकथा का अस्तित्व ही नहीं था। अभी तक की प्रामाणिक जानकारी के अनुसार हिन्दी लघुकथा के जनक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र थे। इनकी 'परिहासिनी' नामक पुस्तक में हास्य रस पूर्ण कई लघु कथाएं संग्रहीत हैं। आकार की दृष्टि से तो इन्हें लघुकथा कहा जा सकता है, पर इनमें आधुनिक लघुकथा के तत्वों की खोज करना व्यर्थ है।

भारतेन्दु के बाद कई रचनाकारों ने लघु कथा के विकास में महत्वपूर्ण योग दिया। सन 1900 में छत्तीसगढ़ मित्र में माधवराव सप्रे की एक लघुकथा 'सुभाषित रत्न' प्रकाशित हुई थी। बाद में यही पुनर्मुद्रित होकर जनवरी 1977 में 'सारिका' में छपी। पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी की एक लघुकथा सन् 1916 में 'सरस्वती' में छपी। इसका नाम था– 'झलमला'। इस लघुकथा में आधुनिक लघुकथाओं के तत्व ढूंढ़े जा सकते हैं।

हिन्दी लघुकथा के पुराने रचनाकारों में आचार्य जगदीश चन्द्र मिश्र का नाम आदर के साथ लिया जाता है। 'मिट्टी के आदमी', 'मौत की खोज', 'पंच तत्व', 'उड़ने के पंख', आदि लघुकथा संग्रहों के माध्यम से इन्होंने इस विधा को समृद्ध किया है। कन्हैया लाल मिश्र 'प्रभाकर' भी हिन्दी लघुकथा के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। 'आकाश के तारे, धरती के फूल', इनका बहुचर्चित लघुकथा संग्रह है। लघुकथा के विकास में तिलक सिंह परमार का नाम भी उल्लेखनीय है। 'स्वाति सुमन' इनकी लघुकथाओं का महत्वपूर्ण संग्रह है। कहानीकार सुदर्शन ने भी कुछ सुन्दर लघुकथाओं की रचना की। इनकी लघुकथाओं का संग्रह सन् 1930 में 'झरोखे' नाम से प्रकाशित हुआ। लघुकथा को समृद्ध करने वाले रचनाकारों में अयोध्या प्रसाद गोयलीय का भी नाम आता है। कथ्य और शिल्प की दृष्टि से इनकी लघुकथाएं श्रेष्ठ मानी जा सकती हैं। 'लो कहानी सुनो', 'गहरे पानी पैठ', तथा 'जिन खोजा तिन पाइयां', इनके प्रकाशित लघुकथा संग्रह हैं।

लघुकथा को समृद्ध करने वाले पुरानी पीढ़ी के रचनाकारों में रामप्रसाद रावी की महत्वपूर्ण भूमिका है। बिना इनके उल्लेख के लघुकथा का इतिहास अधूरा ही रहेगा। इनके दो महत्वपूर्ण लघुकथा संग्रह 'मेरे कथा गुरु का कहना है' भाग–1 व भाग–2 क्रमशः 1958 और 1961 ई0 में प्रकाशित हुए। इन संग्रहों को हिन्दी लघुकथा के इतिहास में मील का पत्थर माना जा सकता है।

इनके अतिरिक्त इस पीढ़ी के अन्य बहुत से रचनाकारों ने भी हिन्दी लघुकथा को समृद्ध किया है।

सन् 1960 के बाद हिन्दी लघुकथा ने एक नए युग में प्रवेश किया। न सिर्फ इसमें विषयगत बदलाव आया अपितु एक स्वतंत्र विधा के रूप में इसकी पहचान भी बनी। सातवें और आठवें दशक में हिन्दी लघुकथा के विकास में पत्र–पत्रिकाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही। हिन्दी की कई लब्ध प्रतिष्ठ पत्रिकाओं ने लघुकथा विशेषांक प्रकाशित किये। प्रमुख समाचार पत्रों ने भी लघुकथा को स्थान देना आरंभ किया। आठवें दशक के बाद इस विधा में स्तरीय सृजन देखने को मिला। लघुकथाकारों की बाढ़ सी आ गई। पर शीघ्र ही इसके दुष्परिणाम भी सामने आए। लघुकथा के नाम पर बहुत कुछ ऊल–जलूल लिखा जाने लगा। इसकी चर्चा आगे होगी।

लघुकथा को प्रतिष्ठा दिलाने और इसे आधुनिक संदर्भों से जोड़ने में नए रचनाकारों की महत्वपूर्ण भूमिका है। इन्होंने इस विधा को न सिर्फ नए विशेषण, नए संदर्भ, नए भावबोध, नई संवेदनाएं तथा नए शैल्पिक तेवर प्रदान किये हैं, बल्कि नई सृजन धर्मिता और नई भांगिमा भी दी है। ऐसे रचनाकारों की सूची बड़ी लम्बी है। यहां सिर्फ स्थापित प्रमुख रचनाकारों का ही उल्लेख संभव है।

विष्णु प्रभाकर पुरानी पीढ़ी के रचनाकार हैं, पर लघुकथा लेखन का कार्य इन्होंने बाद में आरंभ किया। 'आपकी कृपा है' तथा 'कौन जीता कौन हारा' इनके लघुकथा संग्रह हैं। प्रभाकर जी की लघुकथाओं में मानवीय संवेदना की सफल अभिव्यक्ति देखने को मिलती है।

प्रसिद्ध व्यंग्य लेखक हरिशंकर परसाई ने दो सौ से अधिक लघुकथाओं की रचना की है। इनकी लघुकथाओं में व्यंग्य का स्वर प्रमुख है। डा० शंकर पुणताम्बेकर प्रारंभ से ही इस विधा के प्रति निष्ठावान रहे हैं। अनेक स्तरीय पत्र–पत्रिकाओं एवं संग्रहों में इनकी लघुकथाएं प्रकाशित हुई हैं। इन्होंने 1977 में 70 लघुकथाकारों की रचनाओं का सम्पादन 'श्रेष्ठ लघुकथाएं' नाम से किया। पूरन मुद्गल की गणना वरिष्ठ लघु कथाकारों में होती है। लघुकथा को प्रचारित–प्रसारित व स्थापित करने में इनका विशेष योगदान रहा है। 1982 में इनकी लघुकथाओं का संग्रह 'निरंतर इतिहास' नाम से प्रकाशित हुआ। जगदीश कश्यप भी प्रतिष्ठित लघु कथाकार हैं। इस विधा को सही दिशा देने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। इनकी लघुकथाएं हमारे चिंतन पर गहरी चोट करती हैं और एक नई सोच पैदा करती हैं। भगीरथ परिहार की गणना हिन्दी के मूर्धन्य लघु कथाकारों में होती है। इनकी अब तक 200 से अधिक लघुकथाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। मानवीय संवेदनाओं को ही इन्होंने अपनी लघुकथाओं का प्रमुख विषय बनाया है। व्यंजनापूर्ण भाषा का प्रयोग इनकी लघुकथाओं की विशेषता है।

पृथ्वीराज अरोड़ा आठवें दशक के प्रमुख लघु कथाकार हैं। विश्वविद्यालय जीवन की विसंगतियों को आधार बनाकर इन्होंने अनेक लघु कथाओं की रचना की है। सन् 1997 में प्रकाशित इनका लघु कथा संग्रह 'तीन न तेरह' इस विधा की महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

राजनीति में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा सामाजिक रिश्तों में आए बदलाव को लेकर सतीश राठी ने कई लघु कथाएं लिखी हैं। इन्होंने लघुकथा वार्षिकी 'क्षितिज' तथा 'मनोबल' नामक लघुकथा संकलन का सम्पादन किया है। डा० कमल चोपड़ा मानवीय संवेदनाओं के रचनाकार हैं। इन्होंने 'हालात', 'प्रतिवाद', 'अपवाद', 'आयुध', 'अपरोक्ष' आदि संकलनों का सम्पादन किया है। 'फंगस' इनकी लघुकथाओं का महत्वपूर्ण संग्रह है। मुकेश शर्मा ने लघुकथा पर समीक्षात्मक कार्य अधिक किया है। सन 1993 में प्रकाशित इनकी पुस्तक 'लघुकथा : रचना और समीक्षादृष्टि' में श्रेष्ठ रचनाकारों की रचनाओं के संकलन के साथ प्रमुख साहित्यकारों से मुकेश शर्मा की वार्ता भी संकलित है। अशोक भाटिया भी लघुकथा लेखक के साथ लघुकथा समीक्षक हैं। लघुकथा के विविध पक्षों को लेकर इन्होंने अनेक सुन्दर लेख लिखे हैं।

आधुनिक लघु कथाकारों में डा० अशोक लव की अपनी अलग पहचान है। 1991 में इनकी लघुकथाओं का संकलन 'सलाम दिल्ली' नाम से प्रकाशित हुआ। डा० सतीश राज पुष्करणा ऐसे प्रतिष्ठित रचनाकार हैं जिन्होंने इस विधा के सृजन और समीक्षा पक्ष पर बहुत कार्य किया है। 'लघुकथा : बहस के चौराहे पर' तथा 'लघुकथा : सर्जन एवं समीक्षा' इनके द्वारा सम्पादित महत्वपूर्ण संकलन हैं। विक्रम सोनी आठवें दशक के प्रमुख लघु कथाकार हैं। इनके द्वारा सम्पादित 'लघु आघात' पत्रिका लघु कथा को समर्पित है। सुकेश साहनी प्रयोग धर्मी रचनाकार हैं। 'स्त्री-पुरुष सम्बन्धों की लघुकथाएं', 'महानगर की लघुकथाएं' तथा 'देह व्यापार की लघुकथाएं' नामक संकलनों का सम्पादन करके इस दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है।

कथाकार बलराम ने 'हिन्दी लघुकथा कोश', 'भारतीय लघुकथा कोश (भाग-1 व 2)', 'कथानामा (भाग-1,2,3)' तथा 'विश्व लघु कथा कोश (भाग-1,2,3,4)' का सम्पादन करके इस विधा के प्रति अपनी निष्ठा एवं समर्पणशीलता का परिचय दिया है।

हिन्दी लघुकथा की समृद्धि में महिला रचनाकारों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही है। खासकर नारी जीवन से जुड़ी समस्याओं को इन्होंने अपने लेखन में गंभीरता से उठाया है। इंदिरा खुराना एक ऐसी ही लघुकथा लेखिका हैं जिन्होंने अपने लघुकथा संग्रह 'औरत होने का दर्द'

(1997) में नारी मनोविज्ञान को गहराई तक महसूस किया है। सिंधु जुनेजा आठवें दशक की महिला लेखिकाओं में प्रमुख हैं। अपनी लघुकथाओं में इन्होंने नारी मन की एकांतिक पीड़ा को गंभीरता से प्रस्तुत किया है। उर्मि कृष्ण भी आठवें दशक की चर्चित महिला लघुकथाकार हैं। अनेक पत्र–पत्रिकाओं में इनकी रचनाएं प्रकाशित हुई हैं।

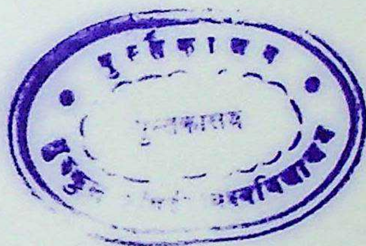
डा० शमीम शर्मा एक सशक्त महिला लघु कथाकार के साथ ही लघुकथा समीक्षक भी हैं। 'लघुकथा का स्वरूप और विकास' विषय पर इन्होंने पी–एच० डी० की है। सन् 1982 में इन्होंने 'हस्ताक्षर' नामक लघुकथा संकलन का सम्पादन किया है। कई दृष्टियों से इस संकलन का अपना विशेष महत्व है। इसमें देश के जाने माने रचनाकारों की लगभग दो सौ लघु कथाएं संकलित हैं। साथ ही लघुकथा पर समीक्षात्मक सामग्री भी है। इस संकलन की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि इसमें लघुकथा के प्रमुख संकलनों तथा लघुकथा को प्रकाशित करने वाली लगभग तीन सौ पत्रिकाओं की सूची दी हुई है।

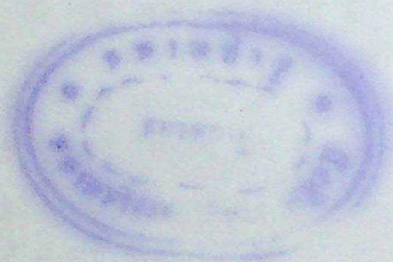
इनके अतिरिक्त शताधिक अन्य रचनाकार भी इस विधा को समृद्ध करने में लगे हुए हैं।

विकास की एक लम्बी यात्रा तय कर लेने के बाद भी हिन्दी लघुकथा आज संघर्ष के दौर से गुजर रही है। लघुकथा के नाम पर चुटकले, संस्मरण, भौंडे व्यंग्य व पैरोडियां लिखने वाले नवोदित रचनाकार इस विधा को सर्वाधिक क्षति पहुंचा रहे हैं। जो लघुकथाएं सामने आ रही हैं उनका कथ्य प्रभावहीन है। उनमें गाम्भीर्य की भी कमी देखने को मिलती है। यही कारण है कि जहां साहित्य समीक्षक इस विधा की उपेक्षा कर रहे हैं, वहीं पाठक भी इसे गंभीरता से नहीं ले रहे हैं। लघुकथा को स्थान देने वाली पत्रिकाओं का अभाव होता जा रहा है। इधर कहानियों का नया दौर शुरू हुआ है। इससे भी इस विधा को क्षति पहुंच रही है। पर कुल मिलाकर निराश होने की आवश्यकता नहीं है। हिन्दी लघुकथा का भविष्य उज्ज्वल है। यह संघर्षों के बीच जीवित ही नहीं रहेगी, बल्कि समृद्ध भी होगी।

'हिन्दी साहित्यःविविध परिदृश्य' मेरे समय–समय पर लिखे गए लेखों तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों की साहित्यिक संगोष्ठियों एवं पुनश्चर्या पाठ्यक्रमों में दिये गए व्याख्यानों का संकलन है। इसे मैंने क्रमबद्ध एवं

व्यवस्थित रूप प्रदान किया है। इस संकलन के लेखों में हिन्दी साहित्य के विविध पक्षों, प्रमुख रचनाकारों एवं उनकी रचनाओं पर नई दृष्टि से विचार किया गया है। विषय कुछ पुराने हैं, कुछ बिल्कुल नए। लेखों के चयन में मेरा प्रयास रहा है कि परम्परा और आधुनिकता का समन्वय बना रहे । 'संस्कृति और सभ्यता' से लेकर 'हिन्दी लघुकथा: सृजन और संघर्ष' तक के ये लेख कुल मिलाकर हिन्दी साहित्य का विविध परिदृश्य प्रस्तुत करते हैं। इन्हें एकता के सूत्र में बाँध देने से हिन्दी साहित्य का एक नया इतिहास बनता है।






R84,RAM-H
114092





लेखक परिचय

नाम : **डॉ० सन्त राम वैश्य**

जन्म : 13 जुलाई, 1955 ई0।
अमेठी, जिला – सुलतानपुर, उत्तर प्रदेश।

शिक्षा : प्रारंभिक शिक्षा आर्य समाज स्कूल अमेठी में। अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद से 1975 में बी०ए० तथा 1977 में एम०ए०। एम०ए० प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण। सर्वाधिक अंक प्राप्त करने पर 'संजय' तथा 'रणंजय' स्वर्ण पदक से सम्मानित।
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी से डा० त्रिभुवन सिंह के निर्देशन में 'सूर की सांस्कृतिक चेतना और उनका युग बोध' विषय पर 1980 में पी०एच०डी०।

अनुभव : अप्रैल 1980 से सितम्बर 1983 तक तुलसी शोध संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में शोध सहायक।
जनवरी 1984 से मई 1984 तक नागरी प्रचारिणी सभा, काशी के खोज विभाग में।
23 मई 1984 से 26 अगस्त 1986 तक हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में यू०जी०सी० द्वारा स्वीकृत 'सूर साहित्यः पौराणिक संदर्भ और सामाजिक बोध' विषयक शोध योजना में सीनियर रिसर्च फेलो।

अध्यापन: 28 अगस्त, 1986 से हिन्दी विभाग, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में प्रवक्ता।
29 जनवरी, 1992 से रीडर। रोटेशन में 1.12.92 से 30.6.95 तक विभागाध्यक्ष।

प्रकाशन : 'सूर की सांस्कृतिक चेतना और उनका युगबोध' शीर्षक ग्रंथ क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली से प्रकाशित। इसके अतिरिक्त विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं तथा समीक्षा ग्रंथों में अनेक शोध पत्र/लेख प्रकाशित।